

राष्ट्र सेवा दल – पंचसूत्र

## जनतंत्र

लेखक

प्रा. विकास देशपांडे



प्रकाशक

वाङ्मय विभाग,

राष्ट्र सेवा दल

राष्ट्र सेवा दल – पंचसूत्र

# जनतंत्र

लेखक

प्रा. विकास देशपांडे

हिंदी अनुवाद

डॉ. नीला बोर्वणकर

प्रकाशक

वाङ्मय विभाग,

राष्ट्र सेवा दल

- राष्ट्र सेवा दल –पंचसूत्र
- जनतंत्र
- लेखक : प्रा. विकास देशपांडे
- हिंदी अनुवाद : डॉ. नीला बारवणकर

## राष्ट्र सेवा दल

- प्रथम आवृत्ति  
12 नवंबर 2002
- प्रकाशक वाङ्मय विभाग  
राष्ट्र सेवा दल,  
साने गुरुजी स्मारक  
सिंहगड रस्ता – पुणे– 30
- संदर्भ सहयोग:  
टिळक महाराष्ट्र विद्यापीठ,  
(मुक्त विद्यया विभाग)  
सहयोग के लिए धन्यवाद!
- अक्षर योजना:  
सौ. प्रीति पराग शाह  
(020) 4330037
- मुद्रक : डायनामिक

ए-5/30 रक्षालेखा सोसायटी,

दत्तावाडी, पुणे-30

○ मूल्य : रू. 30

## प्रस्तावना

जनतंत्र, समाजवाद, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रवाद और वैज्ञानिक दृष्टिकोण राष्ट्र सेवा दल के पंचसूत्र हैं। इन पंचसूत्रों द्वारा स्पष्ट दिशा निर्देशन होता है कि संघर्षशील समाजवादी संगठन अर्थात् राष्ट्र सेवा दल क्या करना चाहता है? पंचसूत्र पर पाँच छोटी किताबें प्रकाशित करने का इरादा राष्ट्र सेवा दल का है। इनमें से जनतंत्र, राष्ट्रवाद एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण ये किताबें क्रमशः प्रा. विकास देशपांडे (महामंत्री), प्रा. सुभाष वारे (राष्ट्रीय संघटक) तथा विनय सावंत (सचिव, महाराष्ट्र) ने लिखी हैं। इन लेखकों ने बहुत श्रमपूर्वक विषयानुसार व्यापक संदर्भों को समेटा है। इन सभी मूल्यों को आज के ताजे संदर्भों के अनुसार प्रस्तुत करने की कोशिश जानबूझकर की है। मेरा विश्वास है कि इन किताबों के अध्ययन से सेवा दल सैनिकों के विचारविश्व में वृद्धि होगी। राष्ट्र सेवा दल के अलावा अन्य पाठकों के लिए भी ये किताबें उपयुक्त सिद्ध होंगी। अन्य दो किताबें शीघ्र ही उपलब्ध करा देने की कोशिश जारी है। इतना ही नहीं तो, सेवा दल सैनिकों को अपनी शाखाओं में तथा शिविरों में उपयुक्त सिद्ध हो पाए, ऐसे वैचारिक साहित्य का विमोचन करने की इच्छा बाङ्.मय विभाग की है। राष्ट्र सेवा दल के कार्य का विस्तार हो, इसलिए ये पुस्तकें हिंदी भाषा में प्रकाशित की जा रही हैं। मेरा अपना मानना है कि महाराष्ट्र के सैनिकों को हिंदी भाषा की किताबें समझने में कोई दिक्कत नहीं आएगी। इन पुस्तकों के लेखकों को मैं धन्यवाद ज्ञापित करना चाहता हूँ।

एस.एम.जन्मदिन

12 नवंबर 2002

भवदीय

अध्यक्ष,

राष्ट्र सेवा दल



## प्रकाशक की ओर से

राष्ट्र सेवा दल के बाङ्गमय विभाग द्वारा सेवा दल पंचसूत्रों में से 'जनतंत्र', 'राष्ट्रवाद' और 'वैज्ञानिक दृष्टिकोण' विषय पर तीन पुस्तिकाएँ प्रकाशित हो रही हैं। मुझे विश्वास है कि 'समाजवाद' और 'धर्मनिरपेक्षता' विषयक बाकी दो पुस्तिकाएँ यथावकाश अवश्य प्रकाशित होंगी।

सभी जानते हैं कि समताधिष्ठित समाजनिर्मिति के उद्देश्य को ध्यान में रखनेवाले सेवा दल जैसे संगठन के लिए कार्यकर्ता का वैचारिक विश्व समृद्ध करने की कितनी जरूरत है। बाङ्गमय विभाग इस जरूरत को पूरा करने का निरंतर प्रयास करेगा। इस बारे में सभी सेवा दल सैनिकों के सुझावों का स्वागत है।

इस पुस्तिकाओं को थोड़े समय में सफलतापूर्वक वास्तविक रूप देने में स्वयं लेखक, हिंदी अनुवादिका डॉ. नीला बोर्वणकर, महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा के कार्याध्यक्ष एवं ज्येष्ठ प्राध्यापक सु.मो. शाह, अक्षर योजना करने वाली सौ. प्रीति पराग शाह इन सभी के योग्य दिशा में किए हुए अथक प्रयास सहायक हैं। मैं इन सभी का बहुत ही आभारी हूँ।

इन पुस्तिकाओं की कल्पना सेवा दल अध्यक्ष मा. भाई वैद्य जी की है। यह आग्रह भी उन्हीं का था कि पुस्तिका-लेखन युवा पदाधिकारियों को ही करना चाहिए। पुस्तिका प्रकाशन के हर मुकाम पर

उनके द्वारा जो मार्गदर्शन लेखकों को तथा बाङ्.मय विभाग को मिला उसके बिना यह काम असंभव था।

सेवा दल सैनिकों को मेरा अनुरोध है कि वे पुस्तिका जरूर पढ़ें, अपने सुझाव दें और सेवा दल को सशक्त बनाने के इस प्रयास में अपना योगदान दें।

धन्यवाद!

12 नवंबर 2002

सुभाष वारे

प्रमुख, बाङ्.मय विभाग

राष्ट्र सेवा दल

## अनुक्रम

1.	जनतंत्र	6
2.	संसदीय तथा अध्यक्षीय शासन पद्धति	20
3.	एकात्म तथा संघराज्यीय शासन पद्धति	36
4.	भारतीय जनतंत्र : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि	50
5.	स्वातंत्र्योत्तर युग में भारतीय जनतंत्र की यात्रा तथा जनतंत्र की चुनौतियाँ	69

## जनतंत्र

प्रास्ताविक :-

‘जनतंत्र’ का उदय कब हुआ, इसका संक्षेप में यही उत्तर होगा कि जब से सुसंस्कृत मानवी इतिहास उपलब्ध है तब से किसी-न-किसी रूप में जनतांत्रिक व्यवस्था एक शासनप्रणाली के रूप में विद्यमान रही है। ग्रीक राज्यशास्त्रज्ञ एरिस्टॉटल ने शासन प्रणालियों का जो वर्गीकरण किया है उसमें जनतंत्र का उल्लेख है। लेकिन उन्होंने जनतांत्रिक प्रणाली का उल्लेख गौरव के साथ नहीं किया है। एरिस्टॉटल के मतानुसार जनतंत्र अर्थात् अज्ञानी स्वार्थी लोगों की समुदायसत्ता थी। उनके अनुसार ‘जनसत्ता’ (Polity) अर्थात् आम जनता के अधिकार की वैद्य तथा शांतिपूर्ण परिवर्तन के लिए अनुकूल शासनप्रणाली। यद्यपि यह ‘जनसत्ता’ आज की जनतांत्रिक शासनप्रणाली के निकट है फिर भी कुल मिलाकर अनेक व्यक्तियों के अधिकार में सार्वभौम सत्ता की इस प्रणाली को एरिस्टॉटल ने श्रेष्ठ नहीं माना है। उन्होंने राजसत्ता, महाजन सत्ता तथा जनतंत्र इस गुणानुक्रम को प्रस्तुत किया है। परंतु यहाँ ध्यान में रखना होगा कि एरिस्टॉटल कृत जनतांत्रिक प्रणाली का अथवा जनसत्ता का विवेचन तत्कालीन सीमित जनसंख्यावाले ग्रीक नगरराज्यों को सामने रखकर किया गया है। अतः संपूर्ण जनता का जिसमें सहयोग हो ऐसी प्रत्यक्ष जनतांत्रिक अथवा जनसत्ता प्रणाली उन्हें अभिप्रेत थी। मर्यादित जनसंख्या तथा भूमि के कारण ग्रीक नगरराज्यों में प्रत्यक्ष जनतांत्रिक प्रणाली संभव थी। राज्य की जनसंख्या तथा भूप्रदेश का विस्तार होने पर प्रत्यक्ष तथा सीधी जनतांत्रिक प्रणाली को कार्यान्वित करना असंभव था।

मध्ययुग में अनेक साम्राज्यों का उदय हुआ। स्वाभाविक रूप से राज्य की सीमाएँ तथा जनसंख्या बढ़ती गई। इस कालखंड में जनतंत्र का स्वरूप विकसित होता गया। प्रारंभ में सम्राट और राजाओं ने अपने लिए जो सलाहकार समितियाँ नियुक्त की थीं वो आगे चलकर प्रतिनिधिक लोक-सभागृह बन गईं। राजसत्ता के कार्यकारी तथा वैधानिक अधिकार लोकनियुक्त कार्यकारी और विधान सभाओं ने हथिया लिए। यहाँ इंग्लैंड की राजसत्ता से लोकप्रतिनिधियों के हाथों में अधिकारों के हस्तांतरण की बात ध्यान में आती है। महाराजा 'जॉन' ने 'मैग्नाचार्टा' नामक सनद पर हस्ताक्षर किए। इस सनद के द्वारा संसद के सार्वभौमत्व के प्रस्थापित होने की प्रक्रिया का प्रारंभ हुआ। सन् 1688 में इंग्लैंड में रक्तविहीन क्रांति हुई। इस घटना ने साबित किया कि संसद अर्थात् लोकप्रतिनिधिगृह का स्थान राजा से भी श्रेष्ठ है।

इंग्लैंड, अमेरिका, यूरोप सहित अनेक राष्ट्रों ने प्रतिनिधिक जनतंत्र को अपनाया। इस सदी के पूर्वार्ध में ही अफ्रीका और एशिया के अनेक राष्ट्रों में साम्राज्यवाद के बोझ को हरा दिया। इनमें से भारत सहित अनेक देशों ने जनतांत्रिक शासन प्रणाली को स्वीकार किया।

### **जनतांत्रिक जीवन-दृष्टि**

आज के युग में शुद्ध जनतांत्रिक शासनप्रणाली को खोजना कठिन है। क्योंकि तानाशाही में भी जनतांत्रिक प्रणाली की कुछ संस्थाओं को औपचारिक रूप में ग्रहण किया जाता है। उदाहरण के तौर पर—उसमें अत्यंत मर्यादित वैधानिक अधिकार की विधानसभा प्रस्थापित की जाती है। यह विधानसभा तानाशाहों की इच्छाओं को औपचारिक वैधानिक मान्यता देती है।

कार्यकारी मंडल, विधिमंडल तथा न्याय मंडल के अधिकारों में यथोचित संतुलन, न्यायालय को निष्पक्ष, व्यक्तिस्वातंत्र्य के अनुकूल न्याय का राज्य आदि निकायों पर शासनप्रणाली का जनतांत्रिक होना, न होना परखा जा सकता है। परंतु जनतंत्र का विचार सिर्फ एक शासनप्रणाली के रूप में नहीं किया जा सकता बल्कि उसे एक जीवन दृष्टि के रूप में देखना जरूरी है।

जनतंत्र में विरोधियों के मतों की तरफ सहिष्णुता के साथ देखना चाहिए। साथ ही अपने जनतांत्रिक अधिकार तथा स्वातंत्र्य का विचार करते समय सचेत रहना चाहिए कि कहीं दूसरे व्यक्ति के अधिकार और स्वातंत्र्य पर अतिक्रमण न हो। जनतंत्र की जननी इंग्लैंड में वचन प्रसिद्ध है —‘मेरे मन में आपके मतों के प्रति अत्यधिक घृणा है, परंतु आपके मतस्वातंत्र्य के अधिकार को शाश्वत रखने की दृष्टि से मैं अपने प्राणों की बाजी लगाऊँगा।’ इससे प्रतीत होता है कि जनतंत्र सिर्फ एक शासनप्रणाली नहीं बल्कि एक जीवन-दृष्टि। इस वचन में नापसंद मत को प्रस्तुत करने देना, उसकी प्रस्तुति के अनुकूल राजव्यवस्था और समाजव्यवस्था कायम रखना, उसके लिए त्याग तथा प्रसंगोत्पात प्राणों को दाँव पर रखने की तैयारी आदि बातें समाविष्ट हैं। अपने सीमित अर्थ में शासनप्रणाली से अभिप्राय है आधिकारों का बँटवारा। परंतु जनतांत्रिक प्रणाली सिर्फ शासकीय अधिकारों का तकनीकी बँटवारा करनेवाली प्रणाली नहीं है, बल्कि व्यक्ति के मन में नापसंद मतों के प्रति भी आदर निर्माण करनेवाली एक जीवन-दृष्टि है इसमें संदेह नहीं।

### जनतंत्र की विविध परिभाषाएँ

जनतंत्र के लिए अंग्रेजी शब्द है ‘डेमॉक्रसी’। यह शब्द अंग्रेजी के ‘दिमॉस’ (जनता या लोग) ‘क्रेटॉस’ (सत्ता या अधिकार) इन दो ग्रीक शब्दों के संयोग से बना है। इससे जनता की सत्ता,

जनसत्ता यही अर्थ ध्वनित होता है। संक्षेप में राज्य का कारोबार जनता के प्रतिनिधियों द्वारा तथा जनता के सहयोग से चलता है।

‘जनता की, जनता के द्वारा, जनता के लिए संचालित शासन प्रणाली अर्थात् जनतंत्र’ –अमेरिका के राष्ट्राध्यक्ष अब्राहम लिंकन की यह परिभाषा जगत् विख्यात है।

जनतंत्र को परिभाषित करते हुए मैकआयव्हर कहते हैं— ‘जनतंत्र अर्थात् बहुमत के सामर्थ्य पर सरकार चलाने का अधिकार दिलानेवाली तांत्रिक व्यवस्था नहीं है। जनतंत्र में यह तय होता है कि राज्य कौन चलाएगा और मुख्यतः किन उद्देश्यों को लेकर चलाएगा।’ इस परिभाषा से दो बातें स्पष्ट होती हैं। पहली बात है कि लोगों या जनता को अपने राज्यकर्ताओं को चुनने का अधिकार तथा चयन का स्वातंत्र्य रहता है। दूसरी बात यह कि जिन्हें कारोबार के लिए चुना जाता है, उन्हें लोग ही, राज्य का कारोबार चलाने का अधिकार सुपुर्द करते हैं।

स्टफ़ॉर्ड क्रिप्स ने जनतंत्र के संदर्भ में लिखा है ‘जनतंत्र में विशिष्ट उम्र के हर नागरिक को अपने मत-प्रदर्शन का अधिकार रहता है। इतना ही नहीं वो बहुमत पर अपने मत का प्रभाव डालकर उन मतों का बहुमत से स्वीकार कराने की दृष्टि से प्रयत्न भी कर सकता है।’ जनतांत्रिक शासनप्रणाली में विशिष्ट प्रकार की समाजव्यवस्था निहित रहती है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति समान होता है। शासनप्रणाली मानती है कि जाति, धर्म, वंश, आर्थिक स्तर को नजर अंदाज करते हुए हर व्यक्ति समान राजनीतिक, सामाजिक तथा अन्य अधिकारों के काबिल होता है।

जनतांत्रिक शासनप्रणाली के समाज का वर्णन करते हुए वोल्फ करते हैं 'जनतांत्रिक समाज में हर व्यक्ति स्वतंत्र, समान तथा सक्रिय रहता है और वह अपने जीवन को अपनी इच्छानुसार ढाल सकता है। वह मानता है कि जीवन को गढ़ने का अधिकार उसी के समान अन्य व्यक्तियों को भी है।

जनतंत्र के स्वरूप को स्पष्ट उद्घाटित करने की दृष्टि से अनेक विद्वानों ने उसे परिभाषित करने का प्रयास किया है। उनमें से कुछ परिभाषाओं को ऊपर निर्दिष्ट किया गया है। और कुछ परिभाषाएं निम्न हैं:

सिले : प्रत्येक के सहयोग की शासनप्रणाली अर्थात् जनतंत्र।

डायसी : राष्ट्र के जनसमूहों में से तुलनात्मक बड़े जनसमूह के पास सरकार चलाने का अधिकार रखनेवाली प्रणाली ही जनतंत्र है।

## जनतंत्र की सफलता के लिए आवश्यक घटक

अगर जनतांत्रिक शासन प्रणाली को सहिष्णु, दूसरों के मतों का सम्मान करनेवाली जीवन पद्धति के रूप में सफल होना है तो उसमें निम्नलिखित घटकों का समावेश जरूरी है:

### 1. जनतांत्रिक शासनप्रणाली निर्माण करने की तथा उसे कायम रखने की इच्छाशक्ति—

किसी भी समाज की ओर से जनतांत्रिक प्रणाली की स्वीकृति काफी नहीं है, बल्कि उसे कायम रखने के लिए लोकसमूह के द्वारा सामूहिक इच्छाशक्ति का आविष्कार जरूरी है। अगर जनतंत्र का हर नागरिक अपने अधिकार और कर्तव्यों के प्रति सजग है तो ऐसे नागरिकों का समूह अपने मूलभूत अधिकारों और उन अधिकारों की रक्षा करनेवाली सरकार को सत्ता में लाकर अपनी



इच्छाशक्ति को साकार करेगा। इस प्रकार का सजग व्यक्तिसमुदाय ही अन्यायी राज्यसत्ता के द्वारा मूलभूत अधिकारों पर होनेवाले संभाव्य आक्रमण रोक पाएगा।

## 2. बंधुत्व की भावना—

जब व्यक्ति के पास समाज के अन्य सभी व्यक्तियों के प्रति अपनत्व, बंधुत्व की भावना होगी तो ही समाज में सच्चे रूप में एकता की भावना पनपेगी। केवल कानून के द्वारा व्यक्ति-व्यक्तियों में समाजिक समता कायम नहीं होगी। हर व्यक्ति के द्वारा उसे मन से स्वीकारना जरूरी है। सामूहिक लोककल्याण के उद्देश्य को साकार करने के लिए जनतांत्रिक समूह के द्वारा सामूहिक बंधुत्व की भावना को हार्दिक रूप से स्वीकारना आवश्यक है, तभी सच्चे अर्थ में जनतंत्र के सामाजिक समता का तत्त्व प्रत्यक्ष आ सकता है।

## 3. सहिष्णुता की भावना—

जनतंत्र में चुनाव के बाद बहुमत की सरकार प्रस्थापित होती है। परन्तु बहुमत प्राप्त पार्टी को सिर्फ अपने हितसंबंधों की रक्षा न करते हुए, अन्य अल्पमत वाले व्यक्तिसमूहों के प्रति सहिष्णुता से पेश आकर उनके न्याय अधिकारों की रक्षा भी करनी होती है। अल्पमत वाले लोकसमूहों के प्रति सहिष्णुता और सौदार्य की भावना ही जनतंत्र की नींव है। चुने जाने के बाद अगर बहुमत प्राप्त पार्टी ने अल्पमत वाली पार्टी तथा लोकसमूहों के प्रति द्वेष-भाव रखा तो जनतंत्र के मूल में होनेवाले विचार ही टुकरा दिए जाने की संभावना रहती है। इसे ध्यान में रखते हुए ही अन्य मत तथा अल्पमतों के प्रति सौदार्य और सहिष्णुता का होना जनतंत्र की सफलता के लिए नितांत आवश्यक बात है।

#### 4. व्यक्तित्व-विकास के लिए पर्याप्त अवसरों की उपलब्धि-

व्यक्ति के विकास के लिए पर्याप्त अवसरों की उपलब्धि किए बिना व्यक्ति राजनीतिक तथा अन्य अधिकारों का पूरा लाभ नहीं उठा पाएगा। ऐसे मौके प्रदान करने के लिए व्यक्ति के लिए ज्ञान के दरवाजे खुले होने चाहिए। साथ ही हर व्यक्ति को न्यूनतम वेतन, रोजगार, कार्यलय में योग्य वातावरण और मनोरंजन की सुविधा, बीमारी तथा वृद्धावस्था में उचित देखभाल की व्यवस्था आदि बातों की निश्चितता होनी चाहिए। यदि यह सब करना हो तो जनतांत्रिक सरकार को अपने पास आर्थिक अधिकार रखने पड़ते हैं। जहाँ संपत्ति का विषम वितरण होता है अथवा जहाँ धनिक वर्ग के द्वारा समाज का शोषण होता है वहाँ जनतंत्र पूर्णरूप से सफल नहीं होगा। स्पष्ट है कि राष्ट्रीय संपत्ति के न्याय वितरण से व्यक्ति-व्यक्तियों में स्थित असमानता को अल्पतम स्तर पर लाना और अंततोगत्वा सभी व्यक्तियों के लिए विकास के पर्याप्त अवसर उपलब्ध कराना संभव होगा।

#### 5. लोगों का सहयोग-

लोगों के सहयोग के बिना जनतंत्र सिर्फ नाम का ही रहेगा। जनतंत्र की सफलता की दृष्टि से सामान्य से सामान्य आदमी भी राजनीति की दृष्टि से सजग होना चाहिए। केवल आम चुनाव में मतदान का अधिकार जताने से नागरिकों का कर्तव्य समाप्त नहीं होता। संविधान ने व्यक्ति को जो मूलभूत अधिकार तथा स्वातंत्र्य प्रदान किए हैं उनका सावधानी से उपयोग करके नागरिक को अपने सहयोग को प्रत्यक्ष दिखाना पड़ता है। हर व्यक्ति को सरकारी नीतियों की पुष्टि करके, अयोग्य नीति को संवैधानिक तथा न्याय मार्ग के द्वारा विरोध करके, अपनी भूमिका को अदा करना होता है। अगर नागरिकों की स्थिति मूक पशुओं के समान हो जाए जो लोगों के प्रत्यक्ष सहयोग से प्रस्थापित राज्य के रूप में जनतंत्र की प्रतिमा नहीं उभरेगी।

## 6. लोगों के सक्रिय सहयोग के लिए पर्याप्त शिक्षा की सुविधा—

जनतंत्र में लोगों से यह उम्मीद होती है कि वे अपने सजग, सतर्क सहयोग तथा आचरण से सरकार का सहयोग दे तथा आवश्यकतानुसार न्याय मार्ग से विरोध भी करें। इस भूमिका को अच्छी तरह से निभाने का काम शिक्षा से सुसंस्कारित-नागरिक ही कर पाएँगे। इसलिए जनतंत्र में जनतांत्रिक प्रणाली को कायम रखने के लिए जरूरी है कि छात्रों को अर्थात् भावी नागरिक तथा मतदाता को इसके अनुकूल शिक्षा मिले। सभी को मुफ्त, अनिवार्य, जनतांत्रिक संस्कारों से युक्त, परिवर्तनाभिमुख शिक्षा देना जनतंत्र की सफलता के लिए नितांत जरूरी है।

जनतंत्र के संदर्भ में उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि इस शासनप्रणाली में लोग अपने प्रतिनिधियों को चुनते हैं और ये प्रतिनिधि प्रजा की ओर से विशिष्ट कालखंड के लिए शासन करते हैं। आज अमेरिका, यूरोप के इंग्लैंड, फ्रांस, डेन्मार्क, स्वीडन आदि देशों में जनतांत्रिक शासनव्यवस्था कार्यरत है। एशिया में भी भारत, श्रीलंका, फिलीपिंस आदि देशों में जनतंत्र है। ऑस्ट्रेलिया, कनाडा में भी जनतांत्रिक प्रणालियाँ हैं।

सुसंस्कृत मानवी समूह ने जनतांत्रिक व्यवस्था को पूर्ण रूप से स्वीकार किया है। इसलिए दुनिया के अनेक तानाशाहों को यह आभास होता है कि उनकी राज्यव्यवस्थाओं में भी जनतंत्र की कुछ संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। पुर्तुगाल, स्पेन आदि देशों में जनता ने वहाँ की नृशंस, जुल्मी सरकार के विरोध में आंदोलन चलाया और उदारमतवादी प्रजातंत्र की स्थापना की। फिलीपिंस में भी लोगों ने जुल्मी मार्कीस को सत्ताभ्रष्ट किया और मादाम एक्विनो के नेतृत्व में प्रजातंत्र की नींव डाली। इसी मादाम एक्विनों के प्रति (मिस्टर एक्विनों) जब जनतंत्र की पुनर्स्थापना के हेतु अमेरिका से अपनी मातृभूमि में लौट रहे थे, तब मार्कीस के सैनिकों ने हवाईअड्डे पर ही गोलियों से उनकी हत्या की

थी। आज उन सभी देशों के लोग जहाँ जनतांत्रिक प्रणाली नहीं है, उसे लाने के लिए संघर्षशील हैं। साथ ही यह भी देखने में आता है कि जहाँ जनतंत्र की सरकारें उदारमतवादी नहीं हैं वहाँ भी लोग सच्चे जनतंत्र की स्थापना के लिए संघर्षरत हैं।

अर्थात् कोई भी शासनपद्धति या शासनप्रणाली पूर्णरूप से निर्दोष या परिपूर्ण नहीं होती। हर प्रणाली के अपने गुण-दोष हैं। जनतांत्रिक शासन-प्रणाली अथवा जीवनपद्धति भी उसका अपवाद नहीं है। इसलिए अब हम जनतंत्र के गुण-दोषों को देखने जा रहे हैं।

## जनतंत्र के गुण

### 1. जनता की इच्छा पर आधारित लोककल्याणकारी राज्य—

सरकार लोगों के द्वारा चुनी जाती है। सरकार को लोगों का अनुमोदन रहता है। इसलिए स्वाभाविक है कि जिस जनता ने सरकार को चुना है उस सरकार को जनता की इच्छाओं का आदर करना पड़ता है। किसी एकाध व्यक्ति या विशिष्ट व्यक्तियों के समूह की इच्छानुसार सरकार नहीं चलती, बल्कि लोगों की इच्छा पर, लोककल्याणकारी दृष्टि रखकर ही चलती है। इससे जनता और सरकार में स्वाभाविक संबंध बन जाते हैं। चुनाव के समय दिए गए आश्वासन पूर्ण हो रहे हैं अथवा नहीं इसपर भी लोग ध्यान दे सकते हैं।

### 2. जनता का सहयोग—

जनतंत्र में किसी भी निर्णय-प्रक्रिया में लोगों का प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सहयोग होता है। इससे नागरिकों में जिम्मेदारियों की भावना का निर्माण होता है। सरकार की अच्छी नीतियों का

यशापयश लोगों के सक्रिय समर्थन तथा सहयोग पर आधारित होता है। नीति तथा कार्यक्रमों की कार्यवाही में लोगों का अधिकाधिक सहयोग पाने की दृष्टि से सरकार को प्रयत्नशील रहना पड़ता है। इससे सरकार तथा जनता में सहयोग की भावना का निर्माण होता है। लोगों के मन में राजनीतिक प्रश्नों की समझ पैदा होती है। साथ ही उनमें सहयोग की भावना, सहिष्णु वृत्ति दूसरों के मत के प्रति आदर, समझदारी आदि नागरिकता के गुणों का निर्माण हो सकता है।

### 3. 'समता' की संकल्पना को स्वीकारना—

'कानूनन सभी नागरिक समान हैं' —समता के इस तत्वज्ञान को जनतंत्र ने अपनाया है। जनतंत्र के द्वारा ही —व्यक्ति की प्रतिष्ठा बढ़ानेवाली तथा मानवनिर्मित ऊंच—नीच की कल्पनाओं से लोगों को अलग करनेवाली ऐसी समता का अनुमोदन किया जा सकता है। राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक क्षेत्रों में समता का निर्माण होने पर प्रगति का मार्ग व्यापक हो जाता है। जनतंत्र के माध्यम से ही मनुष्य—मनुष्य में प्राप्त विषमता न्यूनतम स्तर पर रखने से ही अधिकाधिक समता पर आधारित समाज का निर्माण हो सकता है।

### 4. व्यक्तिस्वातंत्र्य का समर्थन—

व्यक्ति के व्यक्तित्व तथा उसमें स्थित गुणों का चरम विकास होने के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति अनिष्ट बंधनों से मुक्त रहे। ऐसा स्वतंत्र व्यक्ति ही अपने गुण और व्यक्तित्व के विकास के साथ—साथ समाज की भी उन्नति करता है। जनतांत्रिक राज्यव्यवस्था, व्यक्तिस्वातंत्र्य एवं सामाजिक समता का समर्थन करनेवाले समाज में भौतिक उन्नति के साथ—साथ कला, शास्त्र और साहित्य की भी प्रगति होती है।

व्यक्तिस्वातंत्र्य की इस संकल्पना में विरोधी विचार रखने की स्वतंत्रता होता है, इसलिए सरकार की गलतियों को दिखाया जा सकता है। इतना ही नहीं समाज की प्रगति में बाधक रूढ़ियों

तथा समाज के लिए अहितकारी बातों की आलोचना करके समाज परिवर्तन के अनुकूल वातावरण निर्माण किया जा सकता है।

#### 5. शांतिपूर्ण परिवर्तन की संभावना—

तानाशाही अथवा अत्याचारी शासनप्रणाली में शांतिपूर्ण या वैध मार्ग से सत्ता में परिवर्तन संभव नहीं होता। लेकिन जनतंत्र में निश्चित कालावधि के बाद होनेवाले चुनाव एक दृष्टि से शांतिपूर्ण स्पर्धाएँ ही होती हैं। अगर कोई सरकार पसंद नहीं है तो लोग चुनाव के समय शांतिपूर्ण रीति से दूसरी सरकार को सत्ता में लाने के लिए स्वतंत्र हैं। निश्चित कालावधि के बाद चुनाव करवाने का प्रावधान संविधान में है, इसलिए शांतिपूर्ण ढंग से, बिना हिंसाचार और रक्तपात के, अत्यंत वैध एवं संवैधानिक रीति से लोग सत्तापरिवर्तन करा सकते हैं। समाज को द्वेष और प्रतिशोध के वातावरण से मुक्त कर सकता है।

#### 6. राज्य: व्यक्तिविकास का साधन

जनतंत्र में व्यक्तिविकास तथा सामाजिक प्रगति के साधन के रूप में राज्यसत्ता की तरफ देखा जाता है। राज्यसत्ता का उपयोग मुख्यतः जनता की इच्छानुसार होता है। 'जनता ही अंततः सार्वभौम होती है' — यह विचार जनतंत्र के द्वारा ही प्रत्यक्ष में आने की संभावना है। जनता के सार्वभौमत्व से मानवी प्रतिष्ठा बढ़ती है।

अंत में कहा जा सकता है कि जनतंत्र की सफलता में ही मानव का कल्याण निहित है। मनुष्यनिर्मित दृष्ट प्रवृत्तियों पर मनुष्य की विजय में ही जनतंत्र का यश समाया हुआ है। असहिष्णुता, अज्ञान, द्वेष, हिंसा से राजनीतिक परिवर्तन कराने की प्रवृत्ति आदि पर जनतंत्र के द्वारा ही मात करनी चाहिए। यह कार्य कठिन अवश्य है परंतु असंभव नहीं है।

जनतंत्र की त्रुटियाँ या दोषों का अध्ययन भी आवश्यक है, क्योंकि दोषों पर विजय प्राप्त करके ही जनतंत्र का मार्ग सुगम करने की आवश्यकता है।

## जनतंत्र के दोष

### 1. गुणवत्ता की अपेक्षा लोकप्रियता का महत्व—

ऐसी बात नहीं कि जनतंत्र में गुणों का आदर होगा ही। बल्कि जिसने लोकप्रियता का तंत्र आत्मसात किया है, ऐसा व्यक्ति चुनकर आता है और उच्चपदों पर आसीन होता है। किसी की जाति, धर्म, सांपत्तिक स्थिति भी उसे लोकप्रियता प्रदान करके, उसके लिए सत्ता का मार्ग खुला कर देती है। ऐसा व्यक्ति द्वारा सत्ता में आने से व्यापक समाजहित के स्थान पर अपनी लोकप्रियता को कायम रखने की दृष्टि से संकुचित भावनाओं से स्वार्थी निर्णय लेने की संभावना होती है। ऐसे व्यक्ति को सत्ता भ्रष्ट कर देती है। परिणामतः शासन का स्तर गिर जाता है और रिश्वतखोरी, भ्रष्टाचार, 'भाई-भतिजा' वाद आदि दुर्गुणों से सरकार खोखली बन जाती है।

### 2. संख्यात्मकता का अवास्तविक महत्व—

जनतंत्र अर्थात् बहुमत प्राप्त पार्टी का राज्य। बहुमत प्राप्त होने के लिए विशिष्ट संख्या की जरूरत होती है। ऐसी संख्यात्मक शक्ति प्राप्त कराने के लिए सत्ता की राजनीति, राजनीतिक सौदाबाजी में बृद्धि हो जाती है। साथ ही संख्या को अत्यधिक महत्व देने से संख्या के बल पर झुंडशाही का निर्माण होता है। ऐसी झुंडशाही के द्वारा वैचारिक दृष्टि से प्रगल्भ तथा समाजहितैषी-निर्णयों की उम्मीद करना बेकार है।

### 3. समता के तत्त्वज्ञान की मर्यादाएँ—

जनतंत्र में अनुस्यूत समता का तत्व व्यवहार में लाना कठिन है। इतना ही नहीं तो आक्षेप उठाया जाता है कि समता का तत्त्व अव्यवहार्य है वैधानिक दृष्टि से मनुष्य को समान स्तर पर लाने पर भी उनकी बौद्धिक और शारीरिक क्षमता, कर्तव्य, समाज की समस्याओं का आकलन करके उन्हें हल करने की उसकी कुशलता आदि मामलों में अंतर होगा ही। समता के तत्व से अनेक बार गुणवान, प्रज्ञावान व्यक्ति प्रशासन की सीमा से तथा उच्च सत्ता स्थानों से दूर फेंके जाते हैं और किसी प्रभावी जाति के, धर्म तथा सांपत्तिक अनुकूलता वाले अत्यंत सामान्य क्षमता के व्यक्ति प्रशासन और सत्ता के महत्वपूर्ण पदों पर आसीन होते हुए दिखाई देते हैं।

4. बहुसंख्यकों की तानाशाही का संकट और संभावना— किसी पार्टी को समाज के बहुसंख्यकों का समर्थन होने मात्र से यह सिद्ध नहीं होता कि वह पार्टी सभी सामाजिक प्रश्नों को सुलझा सकने में सक्षम है। अक्सर यही देखा जाता है कि अगर किसी पार्टी को व्यापक बहुमत प्राप्त हुआ तो सत्ताधारी विरोधी पार्टी के उचित मतों को नेस्तनाबूद कर देती है। इस वृत्ति से ही बहुमत की तानाशाही का निर्माण होने का धोखा रहता है।

#### 5. सातत्यपूर्ण नीति का अभाव—

कोई भी अच्छी नीति प्रदीर्घ कालखंड के लिए अपनाई जाए तो ही उसके वांछित परिणाम निकलते हैं। निश्चित समय के बाद होनेवाले चुनावों में सत्तापरिवर्तन होने से हो सकता है कि पुराने सत्ताधीशों की नीतियों को आगे न बढ़ाया जाए। साथ ही सत्ताधारी पार्टी भी जनमत के अनुकूल प्रतिकूल दबाव से किसी नीति को रोक लेती है, उसकी कार्यवाही में ढीलापन लाती है अथवा नीति को ही बदल देती है। काफी विलंब के कारण जनता को तकलीफ पहुँचती है, जिस पर प्रशासनिक तंत्र के द्वारा समय का अपव्यय होता है।

6. लोकमत को अनुकूल कराने के लिए अनिष्ट साधनों का प्रयोग —



जनतंत्र लोकमत पर निर्भर होता है जनतंत्र में लोकमत का निर्माण करनेवाले साधन योग्य रीति से काम करते ही हैं सो बात नहीं। यथा—अनेक बार समाचारपत्र वस्तुनिष्ठि वार्ताओं के बजाय चटकीले— भडकीले सनसनीखेज समाचार देकर अयोग्य वातावरण का निर्माण करते हैं। तात्त्विक, वैचारिक नींव पर उचित लोकमत तैयार करने के बजाए, भावनाओं को चुनौती देकर उकसानेवाले वक्तव्य देकर तथा जातीय, धार्मिक नाररेबाजी से उन्हें उत्तेजित कराकर राजनीतिक पार्टियाँ लोकमत को अपने अनुकूल बनाने की कोशिश में रहती हैं। ऐसे वातावरण में भविष्य में भी समाज का हितसंवर्धक लोकमत निर्माण नहीं हो पाता।

#### 7. दोषपूर्ण चुनाव—प्रणाली—

चुनाव प्रक्रिया में अनेक दोष दिखाई देते हैं। अनेक बार अल्पसंख्यकों का समर्थन प्राप्त होनेवाली पार्टी को मतविभाजन की अनुकूलता के कारण संसद में बहुमत प्राप्त होता है संसद में बहुमत तथा अल्पमत जैसी विचित्र परिस्थिति का निर्माण होकर अल्पसंख्यकों का राज्य निर्माण होने का धोखा उभरता है।

8. अत्यंत खर्चीली पद्धति— लोकप्रतिनिधि के रूप में चुने गए विधायक, सांसदों का मानदेय, अधिदेय, उनके रहने तथा यात्रा का आयोजन, कार्यकारी मंडल के मंत्रियों का वेतन, सुरक्षा—व्यवस्था, रहने का प्रबंध, प्रत्यक्ष संसद के अधिवेशनों पर होने वाला व्यय, कुछ आनुपंगिक खर्चे, जनतंत्र प्रणाली निर्मिति के लिए आवश्यक नौकरशाही, उनका वेतन, अधिदेय, उनकी अन्य सुविधाओं के लिए होनेवाला व्यय आदि कारणों से जनतांत्रिक प्रणाली अत्यंत खर्चीली, फुजूलखर्ची हो गई है। (अर्थात् राजशाही या तानाशाही की प्रणालियाँ भी कुछ कम खर्चीली नहीं थीं)

उपर्युक्त दोषों के अलावा जनतंत्र में निहित समता के तत्वज्ञान पर भी आपेक्ष उठाए जाते हैं। कहा जाता है कि भले ही जनतंत्रवाले वैध-रीति से समता प्रस्थापित करने के कितने भी नारे क्यों न लगाए फिर भी मानवी समाज की विषमता प्रकृति-निर्मित विषमता को मात नहीं किया जा सकता। प्रजातांत्रिक व्यवस्था पर आरोप लगाया जाता है कि अपूर्ण, अज्ञानी, विवेक से भी भावना को अधिक महत्व देनेवाले सामान्य आदमी को जनतंत्र सत्ता दिलाता हैं इससे मानवजाति का कल्याण नहीं होगा। सच्चे अर्थ में जनतंत्र की स्थापना मात्र स्वप्नरंजन है। आखिर सत्ता गिने-चुने नेताओं की मुट्टी में रहती है, प्रत्यक्ष सामान्यजन को सत्ता में हिस्सा नहीं मिलता। जनतंत्र पर ऐसे अनेक आरोप लगाए जाते हैं।

## जनतंत्र का भविष्य

इतने सारे दोष और आपेक्ष होने पर भी सुसंस्कृत मानवी समूह ने जनतंत्र को क्यों स्वीकृत किया है? अत्याचारी तानाशाही में पीसी जानेवाली जनता को अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा क्यों मिलती है? इन और ऐसे प्रश्नों के उत्तर के रूप में अथवा जनतांत्रिक प्रणाली में दिखाए जानेवाले दोषों के प्रतिपक्ष में कहा जा सकता है कि आज भी जुल्मी सरकार के खिलाफ लड़नेवालों को लगता है कि जनतंत्र ही वह प्रेरणा-स्रोत है। उन्हें उम्मीद है कि जनतंत्र में किसी के साथ जुल्म और किसी तरह की जोर-जबर्दस्ती नहीं होगी। इनके अलावा जनतंत्र में जो दोष दिखाए जाते हैं वे जनतांत्रिक प्रणाली के नहीं होते। बल्कि हम देख सकते हैं कि वे मानवी विकृतियों से, अपप्रवृत्तियों से निर्मित होते हैं। मानवी अपप्रवृत्तियों से निर्मित दोष मानवी प्रयत्नों से ही दूर हो सकते हैं। उदाहरण के रूप में जनतंत्र में गुणी, बुद्धिमान लोगों के लिए प्रत्यक्ष चुनाव के द्वारा चुने जाना कठिन होता है इस आक्षेप को हम उठाते हैं। आज अनेक जनतांत्रिक देशों में दो लोकप्रतिनिधि भवनों की योजना रहती है। उसमें वरिष्ठ भवन में समाज के ज्ञानवृद्ध, व्यासंगी आदमियों को चुनने का अवसर दिया गया है। भारत में भी घटक राज्य के स्तर पर वरिष्ठ सभागृह

में पदवीप्राप्त, शिक्षक, स्थानीय स्वराज्य संस्थाओं को अपने प्रतिनिधि चुनने का अधिकार प्राप्त है। इससे क्या निर्देशित होता है? इससे जनतंत्र में गुणवान, ज्ञानी व्यक्तियों के विधिमंडल में प्रत्यक्ष चुने जाने की कठिनाई पर अधिकतर मात की गई है।

एक अन्य आपेक्ष है कि संपूर्ण और विशुद्ध जनतंत्र अथवा जनतंत्र के लिए आवश्यक समता एक स्वप्नरंजन मात्र है। परंतु जनतंत्र में 'कानून का राज्य' प्रस्थापित करके व्यक्ति-व्यक्तियों में मानवनिर्मित जाति, धर्म, वंश, सांपत्तिक स्थिति आदि से निर्मित विषमता को, लोगों को मूलभूत अधिकार प्रदान करने से न्यूनतम किया जा सकता है। साथ ही व्यक्ति को विकास का संपूर्ण अवसर दिलानेवाला वातावरण, व्यक्तिविकास के अनुकूल राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक चौकट को भारी-भरकम नींव पर उभारकर मानवी समाज में समता प्रस्थापित करना संभव है। जनतंत्र के आजतक के मार्गक्रमण से यही दिखाई देता है। आज चारों ओर जो निराशा, द्वेष, हिंसाचार, आर्थिक कठिनाई है इसे देखकर कुछ लोग सोचते हैं कि ये प्रश्न जनतंत्र के द्वारा हल नहीं हो सकते, बल्कि बंदूकों की धाक से सत्ता का अनिर्बंध उपयोग करनेवाले तानाशाह ही उन्हें हल कर सकते हैं। अगर तानाशाही से प्रश्न सुलझ जाते तो तानाशाही देशों के लोग जनतांत्रिक अधिकारों की माँग क्यों करते? किस तानाशाही ने मनुष्य की 'रोटी' और 'स्वतंत्रता' जैसी मूलभूत प्रेरणाओं की तुष्टि करानेवाली प्रणाली का निर्माण किया है? इन प्रश्नों के उत्तर नकारात्मक हैं। आज तक के जनतांत्रिक प्रणाली के मार्गक्रमण से पता चलता है कि जनतंत्र के माध्यम से ही मनुष्य के 'रोटी' और 'स्वतंत्रता' इन दोनों प्रेरणाओं को संतुलित न्याय मिला है। जनतंत्र के समर्थक विनम्रता से दर्ज कर सकते हैं कि जनतंत्र के माध्यम से ही वह सफल होगा, और ऐसी उम्मीद रखने योग्य स्थिति आज विद्यमान है।

## संसदीय तथा

### अध्यक्षीय शासन पद्धति

प्रास्ताविक:—

अध्यक्षीय एवं संसदीय सरकारों का अंतर मुख्यतः कार्यकारीमंडल, विधिमंडल के लिए कितना जिम्मेदार है अथवा दोनों में किस प्रकार के संबंध हैं इसपर अवलंबित रहता है। इसे आर्थिक अधिक स्पष्टता से कहना हो तो कहा जा सकता है कि अध्यक्षीय प्रणाली का कार्यकारीमंडल निश्चित समय के लिए चुना जाता है तो संसदीय प्रणाली का कार्यकारीमंडल जब तक उनपर विधिमंडल विश्वास करता है तब तक ही सत्ता में रह सकता है। जैसे कि अमेरिका में अध्यक्षीय प्रणाली है ; वहां चार वर्ष पूरे होने तक एक ही कार्यकारी मंडल सत्ता में होता है। ब्रिटेन में संसदीय प्रणाली है और वहां का कार्यकारीमंडल विधिमंडल का उनपर विश्वास होने तक ही सत्ता में रह सकता है। संसदीय पद्धति में अगर विधिमंडल ने कार्यकारीमंडल के विरोध में अविश्वास का प्रस्ताव पारित किया तो कार्यकारीमंडल को समय से पूर्व ही इस्तीफा देना पड़ता है। लेकिन अध्यक्षीय प्रणाली में विधिमंडल कार्यकारी मंडल के विरोध में अविश्वास का प्रस्ताव नहीं रख सकता। इस प्रकार का स्थूल अंतर दोनों में है। अब हम संसदीय तथा अध्यक्षीय प्रणाली की प्रमुख विशेषताओं को और गुण-दोषों को देखेंगे और उनमें स्थित अंतर परखेंगे।

संसदीय शासन पद्धति

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य : —

ब्रिटेन संसदीय राज्यव्यवस्था की जननी है। यह उचित ही है क्योंकि संसदीय जनतांत्रिक राज्यव्यवस्था का इतना वैशिष्ट्यपूर्ण विकास अन्यत्र नहीं हुआ है। इतना ही नहीं तो दुनिया के जिन अन्य देशों के संविधानों ने संसदीय पद्धति को स्वीकारा है जिसे देखकर लगता है कि उन्होंने भी ब्रिटेन का ही अनुकरण किया हुआ है।

प्रधानमंत्री वॉलपोल के कालखंड में (1721–42) ब्रिटेन में नूतन रूप में संसदीय प्रणाली अस्तित्व में आई। उस समय राजा को सलाह देने के लिए मंत्रिमंडल का निर्माण होता था। बाद में राजा श्रेष्ठ या संसदीय मंत्रिमंडल राजा के लिए जिम्मेदार है या संसद को, इन दो प्रमुख मुद्दों पर राजा तथा संसद के बीच का संघर्ष बढ़ता गया। वह चरमसीमा तक पहुँचा और सन् 1649 में चार्ल्स प्रथम की हत्या की गई, यह हत्या उन लोगों ने की जो संसद को श्रेष्ठ मानते थे। इतना होने पर भी राजसत्ता नष्ट नहीं हुई। बल्कि उसके अधिकार निकाले गए और उसे नाममात्र के लिए रखा गया। जिस मंत्रिमंडल का निर्माण राजा को सलाह देने के लिए किया गया था अब राजा के लिए उसका परामर्श लेना अनिवार्य था। आज ब्रिटेन में राजा की राजमुद्रा के बिना कोई भी विधेयक कानून में रूपांतरित नहीं हो सकता। परंतु संसद के द्वारा पारित किए गए विधेयक पर राजा की राजमुद्रा का अंकित होना अब एक केवल औपचारिकता रही है। विधेयक को कानून में रूपांतर करने के लिए राजमुद्रा का अंकन लगभग अनिवार्य बात बनी है।

समय-समय पर संसदीय या मंत्रिमंडल प्रणाली का जो विकास हुआ है वह बड़ा ही रंजक है। यहाँ केवल एक-दो उदाहरणों को देखते हैं। जॉर्ज प्रथम और द्वितीय दोनों राजा मूलतः जर्मन थे

इसलिए अंग्रेजी नहीं बोल पाते थे। इसलिए मंत्रिमंडल की अध्यक्षता राजा की ओर से प्रधानमंत्री के पास आ गई। 1721 से 1742 के बड़े कालखंड में बॉलपोल प्रधानमंत्री बने जिससे मंत्रिमंडल व्यवस्था स्थिर बनी। वस्तुतः प्रारंभ में ऐसी कल्पना नहीं थी कि प्रधानमंत्री अन्यो से श्रेष्ठ रहे। परंतु बॉलपोल के प्रभावी व्यक्तित्व तथा कुशल कार्यपद्धति के कारण प्रधानमंत्री को श्रेष्ठतव प्रदान हुआ। आगे चलकर यही परंपरा स्थायी बनी। मंत्रिमंडल के पास प्रशासनिक नियंत्रण और राष्ट्रीय नीतियों को तय करने की जिम्मेदारी आई और सच्चे अर्थ में संसद के लिए जिम्मेदार होनेवाला मंत्रिमंडल कार्यान्वित हुआ।

इंग्लैंड में एक कहावत है 'King is dead, Long live the kingship'(राजा मृत है लेकिन राजशाही चिरंजीव रहे)। इस कहावत में अंतर्विरोध तो है लेकिन उससे एक बात स्पष्ट होती है कि आज इंग्लैंड में जीवित राजशाही अधिकारों की दृष्टि से मृतवत् है।

### संसदीय शासनपद्धति की विशेषताएँ:-

#### (अ) नामधारी राज्य प्रमुखों पर लोकप्रतिनिधियों का नियंत्रण-

संसदीय प्रणाली में नामधारी राज्यप्रमुख सरकार के सभी निर्णयों को घोषित करता है और विधेयकों को औपचारिक मान्यता देता है। (इंग्लैंड में राजा या रानी और भारत में राष्ट्रपति)। प्रत्यक्ष में ये अधिकार लोगों के द्वारा चुने गए बहुमत प्राप्त पार्टी के पास होते हैं। संसद में जिस पार्टी को बहुमत प्राप्त है उस पार्टी के नेता को मंत्रिमंडल बनाने के लिए नामधारी राज्यप्रमुख के द्वारा बुलाया जाता है। यद्यपि मंत्रिमंडल की नियुक्ति का लिखित रूप में पंजीकरण नामधारी राज्यप्रमुख के द्वारा होता है तथापि प्रत्यक्ष में वह नियुक्ति बहुमत पार्टी के नेता अर्थात् प्रधानमंत्री ही करते हैं। मंत्रिमंडल में किसे समाविष्ट करना है, किसे कम करना है इसे तय करने का अधिकार प्रधानमंत्री

को होता है। प्रधानमंत्री के साथ मतभेद होने पर अथवा जब प्रधानमंत्री महसूस करते हैं कि इस मतभेद का मंत्रिमंडल के कार्य पर विपरीत परिणाम हो रहा है तब वे संबंधित मंत्री से इस्तीफा माँग सकते हैं। अथवा नामधारी राज्यप्रमुख को संबंधित मंत्री को निष्कासित करने की सलाह दे सकते हैं, जो नामधारी राज्यप्रमुख के लिए बंधनकारक होती है।

संक्षेप में सरकार नामधारी प्रमुख के नाम से चलाई जाती है। यद्यपि महत्वपूर्ण नीतियों का निवेदन नामधारी राज्यप्रमुख करता है फिर भी वह खुद किसी भी अधिकार का इस्तेमाल नहीं कर सकता।

#### आ) बहुमत पार्टी की सरकार—

संसदीय शासनप्रणाली की सरकार बहुमत प्राप्त पार्टी की होती है और तब तक ही टिक पाती है जब तक बहुमत में हो। बहुमत समाप्त होने पर सरकार को इस्तीफा देना पड़ता है। यदि किसी सरकार को पर्याप्त तथा स्थिर बहुमत प्राप्त न हो तो दीर्घकालीन महत्वपूर्ण निर्णय लेने की क्षमता पर उसका गलत असर होता है। इसके विपरीत बहुमत होनेवाली सरकार राज्य में परिणामकारी निर्णय लेने में सक्षम शासन प्रणाली का निर्माण कर सकती है। संसद में किसी एक पार्टी का बहुमत रहता है अथवा दो-तीन पार्टियाँ एकत्रित होकर बहुमत प्रस्थापित करके सरकार स्थापित करने की जिम्मेदारी उठा सकती हैं। ऐसी सरकार को संयुक्त सरकार कहा जाता है ब्रिटेन में सिर्फ दो ही समतुल्य पार्टियाँ हैं। इसलिए द्वितीय महायुद्ध के दौरान स्थापित संयुक्त सरकार सत्ता में नहीं रही। ब्रिटेन में द्विपक्षीय जनतंत्र अच्छी तरह से पनपा है। वहाँ लोग संयुक्त सरकार का विचार तक नहीं करते। इसके विपरीत फ्रान्स, अन्य योरोपीय देश और भारत में बहुविध पार्टियों का प्रचलन है। वहाँ दो-तीन या उनसे भी अधिक पार्टियाँ एकत्रित होकर संयुक्त सरकार चलाने का प्रयास करती हैं। भारत में प. बंगाल और केरल में गत अनेक वर्षों से संयुक्त सरकारें हैं। केन्द्रीय स्तर पर चौधरी चरणसिंह के नेतृत्व में संयुक्त सरकार की स्थापना का प्रयास हुआ, लेकिन वह अल्पजीवी

रहा। संयुक्त सरकार में अनेक पार्टियाँ एकत्रित रहती हैं। जिससे पार्टी की राजनीतिक स्पर्धा के कारण अस्थिरता निर्माण होने की संभावना रहती है। जैसे कि फ्रांस में प्रथम महायुद्ध तथा द्वितीय महायुद्ध में फ्रांस की पराजय के बीच में 23 वर्षों के कालखंड में 42 सरकारें सत्ता में आईं और पदच्युत हुईं। यहाँ बहु-पार्टी का प्रचलन है। इसके विपरीत द्विपार्टी पद्धति के ब्रिटेन में इसी समय में 11 सरकारें आईं और चली गईं। जब राजनीतिक अस्थिरता सीमा से बाहर हो जाती है तब नौकरशाह का अनुचित महत्व बढ़ने की संभावना रहती है। साथ ही गैरजिम्मेदार राजनीतिक पार्टी, असंगठित, अपरिपक्व लोकमत आदि अनिष्ट ग्रहों की युक्ति से समाज में भ्रष्टाचार, भाई-भतीजावाद आदि हानिकारक विकृतियां पनपती हैं। संक्षेप में सुसंगठित राजनीतिक पार्टियाँ, सजग लोकमत आदि संसदीय जनतंत्र की स्थिरता के अनविर्य अंग हैं।

### (इ) प्रधानमंत्री का नेतृत्व—

प्रधानमंत्री का नेतृत्व संसदीय शासन प्रणाली की महत्वपूर्ण विशेषता है। प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एक टीम के रूप में मंत्रिमंडल का कार्य चलता है। जिस प्रकार क्रिकेट टीम का कप्तान तय करता है कि किस स्थान पर कौन-सा बल्लेबाज खेलेगा, गोलंदाजी में कौन-से परिवर्तन करने हैं, उसी प्रकार प्रधानमंत्री तय करते हैं कि किस मंत्री को कौन-सा विभाग सौंपना है, मंत्रिमंडल से किसको निकालना है अथवा किसे शामिल करना है। प्रधानमंत्री संसद या सांसदों के द्वारा चुने गए प्रतिनिधिगृह की बहुमतवाली पार्टी का नेता होता है। मंत्रिमंडल में ऐक्यभाव निर्माण करके अच्छी तथा जिम्मेदार सरकार देने की जिम्मेदारी प्रधानमंत्री की होती है।

### (ई) मंत्रिमंडल तथा संसद का एकत्रीकरण:—



मंत्रिमण्डल के सदस्य वरिष्ठ या कनिष्ठ गृह के सदस्य होती हैं। मंत्रिमंडल में समाविष्ट होते समय अगर कोई मंत्री सदस्य नहीं है तो छह महीनों के अंदर उसे किसी एक गृह के सदस्य के रूप में चुनकर आना आवश्यक होता है। अन्यथा उसे इस्तीफा देना पड़ता है। संसदीय सरकार में प्रत्येक मंत्री अपने नियत विभाग के कामकाज के लिए तथा संपूर्ण प्रशासन के कामकाज के लिए जिम्मेदार होता है। संपूर्ण मंत्रिमंडल संसद के लिए जिम्मेदार होता है। इसे ही संयुक्त-जिम्मेदारी का तत्व कहा जाता है। प्रत्येक मंत्रिमंडल की नीतियों की कार्यवाही के लिए उसे निरंतर प्रयत्न करने होते हैं। मंत्रिमंडल की बैठक में चर्चा के दौरान कोई मंत्री अपने व्यक्तिगत मत रख सकता है। परंतु एक बार नीति तय हो जाने पर अपने निजी मतों को अलग रखकर उसे मंत्रिमंडल के द्वारा तय नीतियों पर अमल करना पड़ता है। अगर किसी मंत्री के निजी मत किसी नीति में बाधा पैदा कर रहे हों तो प्रधानमंत्री ऐसे मंत्री को इस्तीफा देने के लिए मजबूर कर सकते हैं। संयुक्त जिम्मेदारी के तत्वानुसार संसद के सामने मंत्रिमंडल को अपनी एकात्मक प्रतिमा रखनी पड़ती है। जनता की शिकायतों को प्रस्तुत करते समय संसद की विरोधी पार्टियाँ सत्तारूढ़ पार्टी को घेर लेना चाहती हैं। ऐसे समय में प्रत्येक मंत्री को अपने विभाग की आवश्यक जानकारी संसद को देनी पड़ती है, साथ ही मंत्रिमंडल की नीतियों का समर्थन भी करना पड़ता है।

(उ) **संसदीय कामकाज की सफलता के लिए राजनीतिक पार्टी का संयमी तथा उदार होना-** संसदीय सरकार को अच्छी तरह से चलाने के लिए राजनीतिक पार्टियों की आवश्यकता होती है। सत्तारूढ़ तथा विरोधी पार्टियों को अपने विवेकानुसार अपनी बातें एक-दूसरे को समझानी पड़ती हैं। कभी-कभी सत्तारूढ़ पार्टी को विरोधकों द्वारा की गई जायज सूचनाओं को अपनाना पड़ता है। तो कभी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय प्रश्नों के संदर्भ में उनसे उम्मीद रहती है कि क्षणिक लाभ के लिए सरकार को संकट में न डालें और सामंजस्यपूर्ण व्यवहार करें। संसदीय शासन-प्रणाली में ऐसी उम्मीद पूरी होने की संभावना होती है। अगर ऐसा नहीं हुआ तो सत्तारूढ़ और विरोधी पार्टियों में विसंवाद बढ़ता है और यह निर्दोष जनतंत्र की प्रगति में बाधा बनता है।

(ऊ) **संसद को विसर्जित करने का प्रबंध** – संसद तथा मंत्रिमंडल में अगर विसंवाद पैदा हुआ और परिणाम स्वरूप प्रशासन बाधित होने लगा तो समय से पहले संसद को विसर्जित किया जा सकता है ऐसी परिस्थितियां तभी बनती हैं जब (अ) संसद मंत्रिमंडल के विरोध में अविश्वास का प्रस्ताव पारित करती है। (आ) मंत्रिमंडल का संयुक्त स्वरूप होने पर (अनेक पार्टियों का मिलाजुला रूप) तथा इससे मंत्रिमंडल और प्रशासन को चलाने में कठिनाई निर्माण होने पर (इ) नई नीति को कार्यान्वित करने का संकल्प करके अगर मंत्रिमंडल जनता की राय लेना चाहे तो ऐसी स्थिति में प्रधानमंत्री राज्यप्रमुख को सिफारिश करते हैं कि समय से पूर्व ही संसद का लोकनियुक्त सभागृह बरखास्त किया जाए। ऐसी सिफारिश राज्यप्रमुख के लिए बंधनकारी होती है। भले ही यह सिफारिश राजनीतिक लाभ के लिए ही क्यों न की गई हो फिर भी राज्यप्रमुख के लिए वह बंधनकारी है या नहीं इसमें मतभेद हैं। लेकिन आज तक प्रधानमंत्री की सिफारिशों को अनिवार्य मानकर ही राज्यप्रमुखों ने कार्यवाही की है। संसद तथा मंत्रिमंडल में विसंवाद निर्माण होने से अगर उलझन निर्माण हुई तो ऐसे समय में संसद को विसर्जित करके फिर से नए रूप से चुनाव कराना ही हितकर होता है। क्योंकि जनता का फिर से विश्वास प्राप्त करके सत्ता में आई पार्टी ही अपने घोषित कार्यक्रमों की कार्यवाही कर सकती है। संसद का समयपूर्व विसर्जन करना ही पड़ता है सो बात नहीं। कभी-कभी मंत्रिमंडल के इस्तीफा देने के बाद (अविश्वास का प्रस्ताव पारित होने पर ) राज्यप्रमुख किसी पर्यायी पार्टी के नेता को, जो बहुमत का दावा करता है, उसे मंत्रिमंडल निर्माण के लिए आमंत्रित कर सकता है।

### **संसदीय पद्धति के गुण-दोष**

संसदीय पद्धति के गुण-

1. यह प्रणाली संसद तथा मंत्रिमंडल (कार्यकारी मंडल) में सुसंवाद स्थापित करके, संघर्ष के लिए बहुत कम अवसर प्रदान करती है। मंत्री संसद के सदस्य होते हैं, इसलिए उन्हें

लोकप्रतिनिधियों का उद्देश्य ध्यान में रखकर नीति को तय करना होता है और उसकी कार्यवाही करनी होती है। इस प्रकार कानून का निर्माण करनेवाली संसद और उसकी कार्यवाही करनेवाले मंत्रिमंडल में एक स्वाभाविक संतुलन का निर्माण होता है। साथ ही एक दूसरे के अधिकारों को छीनने की प्रवृत्ति से निर्मित संघर्ष भी टल जाता है। ब्रायस कहते हैं कि इस पद्धति से तुरंत निर्णय लेना प्रभावी कृति करना संभव होता है और मंत्रिमंडल में अपने लिए आवश्यक निर्णय संसद के द्वारा पारित कराना संभव होता है। साथ ही संसद में बहुमत होने से देश और विदेश नीतियों के संदर्भ में महत्वपूर्ण निर्णय लेकर उनकी तुरंत कार्यवाही संभव होती है।

2. संसदीय प्रणाली में जनतंत्र के लिए अभिप्रेत जनता के सार्वभौमत्व की संकल्पना ठीक ढंग से साकार होती है। ऊपरी तौर पर देखा जा सकता है कि मंत्रिमंडल संसद के लिए जिम्मेदार है। परंतु संसदीय जनतंत्र में कोई भी बहुमत प्राप्त सरकार जनमत को पूर्णतः नकारने का ढाढस नहीं करती। क्योंकि बहुमत प्राप्त पार्टी की जड़ें जनता में होती हैं, जो उन्हें चुनती है। लोगों का ध्यान मंत्रिमंडल के कामों पर रहता है। लोग भी समय-समय पर प्रशासनिक कार्य का मूल्यांकन करते हैं और सरकार पर निगरानी रखने के अपने अधिकार को जताते हैं। विरोधी पार्टियाँ भी प्रश्न उठाकर, महत्वपूर्ण प्रश्नों को प्रशासनिक स्तर पर सुलझाकर तथा संसदीय स्तर पर सरकार की त्रुटियों पर ध्यान रखकर अपना कर्तव्य निभाती हैं। समाचारपत्र भी जनता के मार्मिक प्रश्नों पर अपनी कलम चलाते हैं और सरकारी काम के इस रथ को पथभ्रष्ट होने से बचाते हैं। इन सभी कारणों से सरकार को जनता का अधिक्षेप या अवमान न हो इस दृष्टि से, व्यापक लोकहित का विचार करके अपने अधिकारों का प्रयोग करना पड़ता है।
3. संसदीय शासनप्रणाली अल्पमतों तथा विरोधकों की आलोचना का अधिकार मान्य करती है। इस पद्धति में यदि बहुमत की सरकार रहती है फिर भी अल्पमत वाली पार्टियों की भूमिका

भी गौण नहीं होती। विरोधकों की इस महत्वपूर्ण भूमिका के संबंध में इंग्लैंड में मजाक के तौर पर कहा जाता है कि प्रधानमंत्री को अपनी पत्नी से भी अधिक विरोधी नेता की जानकारी रखनी पड़ती है। सत्तारूढ़ पार्टी को विरोधी पार्टी के मत तथा आलोचना की ओर ध्यान देना पड़ता है, उसका सम्मान रखना पड़ता है। विरोधकों के मतों को नजर अंदाज करनेवाली सरकार को भारी कीमत चुकानी पड़ सकती है। इसलिए बहुमत और अल्पमत के मतांतरों से उचित मार्ग निकालकर संतुलन रखने का प्रयास किया जाता है। साथ ही सरकार संपूर्ण समाज की दृष्टि से हितकारी नीतियाँ बनाकर सरकार का बल रहता है।

4. संसदीय प्रशासन में राजनीतिक परिवर्तन शांतिपूर्ण रीति से किए जाते हैं। इस शासनप्रणाली में एकतरह से सर्वसमावेशकता तथा स्थितिसापेक्षता अंतर्भूत रहती है। इससे विशिष्ट परिस्थिति का मुकाबला करने, राजनीतिक उथलपुथल टालकर इस स्थिति का प्रभावी मुकाबला करनेवाला नेतृत्व सत्ता में आ सकता है अथवा लाया जा सकता है। उदाहरण के लिए इंग्लैंड में महायुद्ध के दौरान राष्ट्रीय आपातकाल की स्थिति का सामना करने के लिए चेंबर्लिन के स्थान पर चर्चिल का नेतृत्व आया। इस परिवर्तन के समय देश में किसी भी तरह की कोई भी राजनीतिक अस्थिरता नहीं हुई।
5. संसदीय शासन प्रणाली में राजनीतिक पार्टियों के द्वारा ही लोगों को राजनीतिक संदर्भ में शिक्षा दी जाती है। राजनीतिक पार्टियाँ सत्ता हथियाने के प्रयास में रहती हैं। ऐसा प्रयत्न करते समय राष्ट्र और समाज निर्माण के उपयुक्त कार्यक्रम लोगों के सामने रखकर, उनके पीछे संगठित लोकमत का निर्माण करने पर ही लोकमत की अनुकूलता प्राप्त हो सकती है और राजनीतिक पार्टी सत्ता में आ सकती है। इस प्रकार राजनीतिक पार्टियाँ अपनी पार्टी तथा कार्यक्रमों को लोकप्रिय करने के प्रयास में रहती हैं, जिससे लोगों को राजनीति की शिक्षा मिलती है और लोकजागृति का कार्य अच्छी रीति से होता है।

6. संसदीय शासन में जनतांत्रिकीकरण की प्रक्रिया गतिशील हुई है। संसदीय जनतंत्र के जन्मस्थान इंग्लैंड में साम्राज्यशाही एक संस्था के रूप में और नामधारी रूप में विद्यमान है और संसद का अर्थात् लोगों का सार्वभौमत्व प्रस्थापित हुआ है। कहा जाता है कि इंग्लैंड का राजा राज्य करता है पर सत्ता नहीं चलाता। यह जनतांत्रिकीकरण संसदीय शासन के कारण ही अस्तित्व में आया है।

### संसदीय पद्धति के दोष—

1. सत्ता विभाजन का सिद्धांत जनतंत्र के लिए हितकारी माना जाता है। परंतु संसदीय जनतांत्रिक शासन इस सिद्धांत से विपरीत है। संसद और मंत्रिमंडल के एकत्रीकरण से सत्तारूढ़ पार्टी की हुकूमत निर्माण होने की संभावना होती है। क्योंकि संसद में बहुमत प्राप्त पार्टी का कार्यकारी मंडल होता है। इसलिए मंत्रिमंडल अपने अनुकूल नीतियों की किसी भी तरह की परवाह न करते हुए आगे बढ़ सकता है। विशेषतः जहाँ विरोधी पार्टी संख्या की दृष्टि से कमजोर है वहाँ यह धोखा अधिक रहता है। इतना ही नहीं तो संसद का महत्व सिर्फ कार्यकारी मंडल के निर्णयों को औपचारिक अनुमति देने तक सीमित हो जाता है। इसपर विचार करते हुए सिजविक ने कहा कि, 'संसद और कार्यकारी मंडल के एकत्रीकरण के कुछ निश्चित लाभ हैं, परंतु लाभों को कुछ गंभीर त्रुटियों की कीमत अदा करके खरीदना पड़ता है।'
2. मंत्रिमंडल की अस्थिरता संसदीय शासन की बहुत बड़ी त्रुटि है। सत्तारूढ़ पार्टी को अल्प बहुमत होने पर अथवा पार्टी के अंदर नीति को लेकर कुछ मतभेद होने पर यह समस्या गंभीर बनती है। अल्प बहुमत प्राप्त पार्टी के कुछ लोगों द्वारा मंत्रिमंडल निर्माण करना और उनका गिर जाना आदि बातें संसदीय शासनप्रणाली के निरीक्षकों तथा अध्येताओं के लिए नई नहीं हैं। सिर पर अस्थिरता का संकट या अल्प बहुमत के दबाव से अपना निश्चित कार्यकाल पूरा कर सकने से संभ्रम होनेवाली पार्टी जनहित की,

दीर्घसूत्री तथा दीर्घकालीन परिणाम रखनेवाली नीतियों पर सक्षमता के साथ अमल नहीं कर पाएगी। उदाहरण के लिए—यह अनुभव किया गया है कि अल्प बहुमत वाली पार्टी कोई लोकहितकारी कदम बढ़ाती है। कुछ सदस्य धमकाते हैं कि ऐसा कोई कदम उठाने पर वे सरकार का साथ नहीं देंगे। ऐसी स्थिति में सत्ता में रहने के मोह से, अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए सत्तारूढ़ पार्टी दृढ़ता से अपना लोकहितकारी कदम आगे नहीं बढ़ा सकती।

3. सत्तारूढ़ पार्टी और विरोधी पार्टी का यह विभाजन केवल संसद तक सीमित नहीं रहता। इन पार्टियों के अभिनिवेश के कारण और अतिरेकी राजनीतिक स्वार्थों के कारण यह विभाजन देश और समाज का विभाजन साबित होता है। यह स्पर्धा और अतिवाद इस स्तर तक बढ़ता है कि किसी न किसी तरह विरोधी पार्टियों को दबाना शुरू करता है। साथ ही सत्तारूढ़ पार्टी का विरोध कितना और किस रूप में करना है इसका विवेक विरोधी तथा सत्तारूढ़ पार्टी के पास नहीं रहता और ऐसी स्थिति में संसदीय शासन प्रणाली त्रासद होने की संभावना रहती है।
4. संसदीय शासन के सूत्र लोगों के द्वारा चुने गए तथा प्रत्यक्ष प्रशासनिक कार्य की दृष्टि से अनुभवी लोगों के हाथों में रहते हैं। ऐसे अनुभवी लोगों से प्रशासनिक कार्य को उचित न्याय नहीं दिया जाता। इस संदर्भ में 'सर सिडने लो' ने मार्मिक टिप्पणी की है। वे कहते हैं— 'किसी युवक को अर्थविभाग में केवल क्लर्की करनी हो तो भी उसे कोई परीक्षा उत्तीर्ण करनी पड़ती है। परंतु अंक और अंकगणित भूले हुए, लेकिन चुने हुए किसी मध्यमवर्ग के व्यक्ति को वित्तमंत्रीपद दिया जा सकता है। 'मंत्रिमंडल बनाते वक्त प्रधानमंत्री के द्वारा किसी व्यक्ति की विभाग संभालने की क्षमता, उसकी रुचि, उसकी बौद्धिक क्षमता आदि की अपेक्षा उस व्यक्ति का पक्षांतर्गत स्थान, जनता पर होनेवाला उसका प्रभुत्व, उसे मंत्रिमंडल में स्थान देने से प्राप्त होनेवाली स्थिरता आदि बातों का

विचार करना पड़ता है। इससे सुयोग्य व्यक्ति अलग हट जाता है और दुर्बल व्यक्ति उपरोक्त बातों के कारण मंत्री बनता है। भारत में भी प्रशासनिक क्षमता और बौद्धिक क्षमता के बजाय जाति, पक्ष में और पक्ष के बाहर का दबाव, पार्टी प्रमुखों की मर्जी आदि के आधार पर मंत्रीपद प्रदान किए जाने के उदाहरण मिलते हैं।

5. उपरोक्त दोषों के अलावा अनेक बार मंत्रिमंडल का अनुचित विस्तार, बहुमतप्राप्त राजनीतिक पार्टी की हुकूमत निर्माण होना आदि दोष भी दिखाए जाते हैं। पर्याप्त बहुमत के समर्थन पर काम करनेवाले मंत्रिमंडल अगर अपनी ही जिद चलाते हैं तो तानाशाही कायम होने के संकट को नकारा नहीं जा सकता। साथ ही राष्ट्र की आपातकालीन स्थिति में मंत्रिमंडल को परिस्थिति के अनुसार कुछ निर्णय तुरंत लेने पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में संसदीय शासन प्रणाली में समय की बर्बादी होती है जो कि बहुत बड़ा दुर्गुण साबित होता है। संसद में हर निर्णय के संबंध में चर्चा करने की पद्धति है। इससे तुरंत निर्णय लेने की प्रक्रिया में बाधा होती है।

### अध्यक्षीय शासन—पद्धति की विशेषताएँ—

अध्यक्षीय शासनपद्धति का स्वरूप देखने के लिए उसकी निम्नलिखित विशेषताओं का आकलन जरूरी है।

- अ) राज्य के प्रमुख पद पर आसीन अध्यक्ष भारत के राष्ट्रपति अथवा इंग्लैंड के राजा के समान नामधारी नहीं होता। वह अपनी मर्जी से अपने अधिकारों का प्रयोग कर सकता है।
- आ) अध्यक्षीय पद्धति में राज्य का प्रमुख, अर्थात् अध्यक्ष विशिष्ट कालखंड के लिए लोगों के द्वारा चुना जाता है। इसके विपरीत संसदीय प्रणाली में वह संसद के बहुमत प्राप्त पार्टी का नेता (प्रधानमंत्री) रहता है। इससे अध्यक्ष को संसदीय बहुमत प्राप्त होगा ही ऐसा कह नहीं सकते।

- इ) संसदीय बहुमत के समर्थन पर अवलंबित न होने से अध्यक्ष का निश्चित कार्यकाल होता है। समय से पहले अविश्वास के प्रस्ताव द्वारा उसे हटाया नहीं जा सकता। लेकिन सत्ता का नाजायज उपयोग करने पर न्यायालय में उसपर महाभियोग चलाया जाता। अगर बात सिद्ध हुई तो उसे समय से पहले इस्तीफा देना पड़ता है। उदाहरण के लिए— कुप्रसिद्ध वॉटरगेट के संदर्भ में अमेरिका के अध्यक्ष मि. रिचर्ड निक्सन का इस्तीफा देना।
- ई) ऐसी बात नहीं है कि कार्यकारी मंडल अथवा मंत्रिमंडल के सदस्य संसद के सदस्य होते ही हैं। इसलिए संसद का विश्वास होने तक सत्ता में रहने का बंधन कार्यकारी मंडल पर नहीं होता। यह बंधन संसदीय प्रणाली में होता है। अध्यक्ष अपनी मर्जी के अनुसार किसी भी व्यक्ति को मंत्रिमंडल में शामिल करा सकता है। जरूरी नहीं कि वह मंत्री संसद का सदस्य हो इससे संसद से बाहर के कुशल, अनुभवी, व्यक्तियों का समावेश मंत्रिमंडल में हो सकता है।
- उ) कार्यकारी मंडल का प्रमुख सत्ता में रहते समय अथवा अधिकारों की कार्यवाही करते समय संसद के नियंत्रण से मुक्त होता है।
- ऊ) अध्यक्षीय पद्धति में कार्यकारी मंडल के मंत्री अपने विभागों का कारोबार जानने वाले निष्णात व्यक्ति होते हैं। परंतु संभव है कि वे राजनीतिक दृष्टि से प्रभावी न हो। लेकिन संसदीय प्रणाली में ऐसे प्रभावी व्यक्ति जल्दी मंत्री बनते हैं। इस दृष्टि से अध्यक्षीय पद्धति में मंत्री, मंत्री कम, बल्कि अध्यक्ष के द्वारा दिया विभाग संभालनेवाले सचिव अधिक होते हैं। अनेक बार अध्यक्षों के पारिवारिक सदस्य के रूप में उनकी संभावना की जाती है। रूढ़ अर्थ में उनकी तुलना कैबिनेट मंत्री के साथ नहीं की जा सकती।
- ए) अध्यक्षीय पद्धति में कार्यकारी मंडल के कार्य और कर्तव्य प्रशासनिक रूप की कार्यवाही के रूप में होते हैं। कानून की निर्मिति में मंत्रिमंडल का साझा नहीं होता। वह काम संसद का



होता है। संसद कानून बनाती है और मंत्रिमंडल उस पर कार्यवाही करता है। अध्यक्षीय पद्धति में इस प्रकार सुस्पष्ट बँटवारा होता है। मंत्रिमंडल के नेतृत्व में कोई कानून पारित कराने के लिए संसद के सामने रखा गया है यह संसदीय प्रणाली का चित्र अध्यक्षीय पद्धति में दिखाई नहीं देता। मंत्रिमंडल को अपनी किसी योजना को, उससे संबंधित व्यय को मंजूरी के लिए संसद के सामने रखना पड़ता है। लेकिन संसद उसे नकारती नहीं है थोड़ा-बहुत बदलाव करके उसे मंजूर करती है।

ऐ) अध्यक्षीय पद्धति में संसद या विधिमंडल का समय से पूर्व विसर्जन नहीं होता।

इस प्रकार अध्यक्षीय प्रणाली में संसद कार्यकारी मंडल (मंत्रिमंडल) तथा विधिमंडल के कार्य का विभाजन किया जाता है। अमेरिका इसका प्रातिनिधिक उदाहरण है। अमेरिका के संविधान पर मॉटेस्व्यू के सत्ताविभाजन के सिद्धांत का गहरा प्रभाव रहा है। इस सिद्धांत के अनुसार व्यक्तिस्वातंत्र्य की रक्षा के लिए जरूरी है कि राजसत्ता का कोई एक अंग-विधिमंडल, कार्यमंडल, संसद-आवश्यकता के अधिक शक्तिशाली न बने। इन तीनों क्षेत्रों को अलग करके हर एक का उनके सत्ताधिकारों का कार्यक्षेत्र निश्चित करना चाहिए। कोई भी एक अंग दूसरों के सत्ताधिकार क्षेत्र पर अतिक्रमण या हस्तक्षेप न करें। विद्यमान स्थिति में अमेरिका के अध्यक्ष ही दुनिया के सबसे शक्तिशाली राष्ट्रप्रमुख हैं। संविधान ने उन्हें सुनिश्चित अधिकार और समयपूर्ति की निश्चितता दी है, तभी यह संभव हुआ है। अमेरिका के अध्यक्ष का मंत्रिमंडल संसदीय प्रणाली के अनुसार कानून बनाने की प्रक्रिया में सहभागी नहीं रहता। परंतु उसके प्रशासनिक अधिकार वास्तव तथा प्रभावी होने के कारण उसके राष्ट्र के राजनीतिक, विदेशी तथा रक्षा नीतियों को तय करने के अधिकार अत्यंत व्यापक हैं।

उपरोक्त विवेचन से अध्यक्षीय प्रणाली का स्वरूप हमारे ध्यान में आता है, अब हम उसके गुण-दोषों पर ध्यान देंगे।

### अध्यक्षीय पद्धति के गुण-दोष

#### अ) गुण:

1. संसद के लिए जिम्मेदार न होने पर भी अत्यंत जिम्मेदारी के साथ चलाई जानेवाली सरकार अर्थात् अध्यक्षीय सरकार। यही उसका प्रमुख गुण है। अध्यक्ष का कार्यकाल निश्चित रहता है, इसलिए संसद अपनी मर्जी के अनुसार उससे काम नहीं करवा सकती। निश्चित कालावधि के कारण अध्यक्ष को महत्वपूर्ण नीतियों के संदर्भ में निर्णय लेना और हिम्मत के साथ उन पर अमल करना संभव होता है। इसके विपरीत संसदीय प्रणाली में हर निर्णय के लिए कार्यकारी मंडल को संसद की अनुमति लेना आवश्यक होता, अर्थात् उसे संसद पर अवलंबित रहना पड़ता है। ऐसी स्थिति में संसद देरी कर सकती है अथवा अन्य मार्गों से नीतियों की कार्यवाही में रोड़ा अटका सकती है। लेकिन अध्यक्षीय प्रणाली में कार्यकारी मंडल का अस्तित्व संसद पर अवलंबित नहीं होता। इसलिए वह नीतिसंबंधी साहसी, दूरगामी और महत्वपूर्ण निर्णय ले सकता है, उन्हें अमल में ला सकता है। साथ ही अध्यक्ष आम जनता के द्वारा मतदान के जरिए चुना जाता है। इसलिए इसमें जनतंत्र के, जनता के सार्वभौमत्व के मूल्य की कद्र की जाती है।
2. किसी भी आपातकालीन या राष्ट्रीय संकट के समय एकमुखी नियंत्रण, तुरंत निर्णय लेने की क्षमता, नीति की एकत्रित कार्यवाही आदि गुण प्रशासन के पास होना जरूरी होता है। अध्यक्षीय प्रणाली में राष्ट्रप्रमुख के नाते अध्यक्ष के पास निश्चित, सुरक्षित अधिकार

होते हैं। इससे राष्ट्रपति की रक्षा के लिए किसी सख्त निर्णय को लेना और उसकी उचित कार्यवाही करना उसे संभव होता है। द्वितीय महायुद्ध में जब अमेरिका ने मित्र राष्ट्रों की ओर से लड़ना तय किया उस वक्त दुनिया ने अनुभव किया कि प्रे. फ्रैंकलिन रूजवेल्ट ने अपने अध्यक्षीय अधिकारों का कितना सही उपयोग किया। संविधान ने अध्यक्ष को विदेश नीति, संरक्षण तथा अंतर्गत सुरक्षा नीतियों को सुचारु रूप देने का सामर्थ्य प्रदान किया तभी तो रूजवेल्ट अमेरिका की नौका को सही दिशा में ले जा सके।

3. उत्तमोत्तम क्षमता के कुशल व्यक्तियों का सहयोग केवल अध्यक्षीय प्रणाली में ही संभव है। उसमें मंत्री के लिए संसद का सदस्य होना अनिवार्य नहीं है। इसलिए संसद के किसी भी गृह का सदस्य न होने वाला तथा अध्यक्ष की अपनी राजनीतिक पार्टी का सदस्य न होनेवाला व्यक्ति भी अपने प्रशासनिक विषय का गहन, प्रगल्भ ज्ञान रखने के कारण मंत्री बन सकता है। इस व्यवस्था के कारण संसद के गृह में न चुने गए परंतु अपने समृद्ध ज्ञान के कारण ऐसे व्यक्ति नीतियों को तय करने के काम में महत्वपूर्ण योगदान दे सकते हैं। राष्ट्र को ऐसे व्यक्तियों के अनुभव का लाभ होता है। संसदीय पद्धति में सहजता से ऐसा हो पाना संभव नहीं होता। क्योंकि मंत्रिमंडल बनाते वक्त मंत्री के लिए यह जरूरी होता है कि वह संसद के किसी न किसी गृह का सदस्य हो।
4. संसद में प्रश्नों के उत्तर देना, अपने मतदाता संघ को खुश रखना आदि बातें अध्यक्षीय प्रणाली के मंत्री को नहीं करनी पड़ती। इसलिए वे अपना पूरा समय नियत विभाग के कामकाज में लगा सकते हैं। मंत्रिमंडल का अस्तित्व संसद के विश्वास पर निर्भर नहीं होता तथा अविश्वास के प्रस्ताव का प्रावधान भी नहीं होता, इसलिए संसद के कामकाज में पक्षीय अभिनिवेश नहीं दिखाई देता, जो कि संसदीय प्रणाली में दिखाई

देता है। बल्कि पक्षवेद को नजर अंदाज करते हुए राष्ट्रहित, नीतियों के दूरगामी परिणाम आदि पर चर्चा होती है और सच्चे अर्थ में योग्य निर्णय की उम्मीद बढ़ती है।

#### आ) अध्यक्षीय पद्धति के दोष—

1. इस पद्धति की अनेक अंगों से आलोचना की गई है। इसमें कार्यकारी मंडल तथा संसद के कार्यों को अलग किया गया है, जो उत्तम प्रशासन की दृष्टि से अत्यंत अयोग्य है। कोई एक काम सिर्फ संसद का और दूसरा सिर्फ कार्यकारी मंडल का, इस प्रकार का विभाजन अशास्त्रीय और नुकसानकारी है। अनेक बार प्रशासन, संसद और कार्यकारी मंडल के सहयोग से ही उचित नीति साकार होती है। भले ही संविधान ने संसद और कार्यकारी मंडल के कार्य का सुस्पष्ट विभाजन क्यों न किया हो फिर भी ऐसा देखा जाता है कि प्रत्यक्ष में संसद तथा कार्यकारी मंडल में कुछ प्रसंगों को लेकर संघर्ष निर्माण होता है। इस संघर्ष से समय की बरबादी होती है साथ ही हर नीति पर संसद में होनेवाली गहन चर्चा, नूतन और उपयुक्त सूचनाओं का नीति में अंतर्भाव आदि संसदीय प्रणाली में प्राप्त गुणों से राष्ट्र वंचित रहता है। यह बहुत बड़ी राष्ट्रीय हानि साबित होती है।
2. वस्तुतः कार्यकारी मंडल का प्रमुख कार्य होता है, कानून बनाना और उनकी उचित कार्यवाही करना। लेकिन यहाँ अध्यक्षीय पद्धति में कानून की निर्मिति और उनकी कार्यवाही में अलगाव होता है। परिणामतः दोनों में आवश्यक सुसंवाद समाप्त हो जाता है।
3. अध्यक्षीय पद्धति में एक बार अध्यक्ष के चुने जाने पर उस पर जनता का किसी भी प्रकार का नियंत्रण नहीं रह पाता। संसद उसपर अविश्वास नहीं जता सकती। वह प्राप्त अधिकारों का दुरुप्रयोग करके जनता पर अच्छे-बुरे निर्णय लाद सकता है।

4. विदेश नीति, महत्व की नियुक्तियाँ आदि का संसद ने विरोध किया तो राष्ट्राध्यक्ष कठिनाई में आ जाते हैं। विशेषतः एक पार्टी का अध्यक्ष और विरोधी पार्टी की संसद रही तो ऐसी स्थिति में राष्ट्राध्यक्ष के सामने कठिन प्रसंग बनते हैं। अध्यक्षों की नीतियाँ विरोधकों के चंगुल में फँसकर निष्प्रभ हो जाती हैं। इसके विपरीत संसदीय प्रणाली में प्रधानमंत्री और मंत्रिमंडल की नीति को संसद का पूरा समर्थन मिलता है और नीति पर अमल होता है। यह अनुभव हुआ है कि सत्ताविभाजन सिद्धांत के अतिरेक से अध्यक्षीय प्रणाली के सामने काफी पेचीदा बने हैं।

संसदीय प्रणाली हो या अध्यक्षीय हम दोनों के गुण-दोषों की सूची बना सकते हैं। कोई भी शासन प्रणाली पूर्णतः निर्दोष अथवा गुणसंपन्न नहीं हो सकती। देखा गया है कि सजग लोकमत, समाज के व्यक्तियों के अधिकारों और कर्तव्यों के प्रति जागरूकता आदि के द्वारा किसी प्रणाली के दोष कम करके, गुणों का उदात्तीकरण करना संभव होता है।

## एकात्म तथा संघराज्यीय शासनपद्धति

प्रास्ताविक :

राज्य की प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति 'सरकार' के माध्यम से ही होती है। इसलिए राज्यसत्ता, सरकारी सत्ता अपने अधिकारों का विभाजन किस प्रकार से करती है इसका अध्ययन राज्यशास्त्र के अध्येता के लिए आवश्यक है। प्राचीन भारत में तथा अन्यत्र भी छोटे-छोटे नगरराज्य विद्यमान थे। रोमन, ग्रीक नगरराज्यों के बारे में वहाँ के प्रजातंत्र के बारे में हम जानकारी रखते हैं। इन नगरराज्यों में एक ही केंद्रीभूत सत्ता के द्वारा/सरकार द्वारा राज्यकारोबार चलाया जाता था। सीमित भौगोलिक आकार के कारण वह संभव भी था। परंतु जैसे-जैसे राज्यों की भौगोलिक व्याप्ति बढ़ती गई वैसे-वैसे एक ही केंद्रीभूत सत्ता के द्वारा सरकार चलाई जाने लगी। स्थानीय, जिला तथा राज्य जैसे विविध स्तरों पर सत्ता, अधिकार एवं कार्यों का विभाजन करना समयानुसार आवश्यक होने लगा। आधुनिक राज्यों का भौगोलिक आकार और कार्य इतना व्यापक है कि किसी एक केंद्रीय सत्ता द्वारा राज्य कारोबार चलाना असंभव है। इसलिए देखा जाता है कि आधुनिक राज्यों ने 'प्रादेशिक' और 'कार्यविषयक' जैसे दो स्तरों पर राज्य सत्ता का विभाजन किया है।

सवाल उठता है कि राजसत्ता का विभाजन किसको और किस पद्धति से करना चाहिए? इस संदर्भ में और कुछ प्रश्न उठते हैं—राजसत्ता का विभाजन करते समय प्रादेशिक स्तर पर राजनीतिक सत्ता का अनुपात किस प्रकार तय किया जाएगा? केंद्र के पास कितने और कौन-से अधिकार होने चाहिए? प्रादेशिक स्तर पर सरकार/सत्ता संगठन तथा उनकी संरचना किस प्रकार होनी चाहिए? राज्यशास्त्र के अध्येता को उपरोक्त प्रमुख तथा अन्य प्रश्नों के उत्तर देखने पड़ते हैं। इस प्रश्न को सुलझाने पर ही राज्यसंस्था और प्रशासनिक यंत्रणा का सच्चा स्वरूप हम समझ पाएँगे।

इस प्रश्न को सुलझानेवाली, अर्थात् राज्यसत्ता का भौगोलिक या प्रादेशिक स्तर पर विभाजन करनेवाली दो प्रणालियों को आधुनिक राज्यों ने अपनाया है। ये दो प्रणालियाँ हैं— एकात्मक और संघराज्यीय पद्धति। अब हम दोनों प्रणालियों की प्रमुख विशेषताएँ तथा गुण—दोष देखेंगे।

### एकात्म शासन—पद्धति

इंग्लैंड, फ्रांस, इटली, बेल्जियम, जापान, नेपाल, इरान आदि देशों में एकात्मक शासन पद्धति है। इस पद्धति में सभी संवैधानिक तथा सनदशीर अधिकार केंद्र सत्ता के पास होते हैं। केंद्र के द्वारा ही प्रादेशिक स्तर की सत्ता नियंत्रित की जाती है। अपनी सुविधा के अनुसार अधिकारों की मात्रा कम अधिक करने का तथा जिस प्रादेशिक स्तर पर अधिकार प्रदान किए हैं उन प्रदेशों की सीमा निर्धारित करने का अधिकार केंद्र को रहता है। साथ ही केंद्र सरकार अपनी इच्छा के अनुसार प्रदान की गई सत्ता को वापस ले सकती है। प्रशासनिक उपयुक्तता की दृष्टि से यद्यपि संपूर्ण देश का विभाजन किया गया हो फिर भी विभागीय शासनसंस्थाओं द्वारा प्रयुक्त संपूर्ण सत्ता का मूल स्थान केंद्रीय सत्ता ही होती है। आवश्यकता पड़ने पर सत्ता का मूलस्रोत होनेवाली केंद्रसत्ता, प्रशासनिक सुविधा के लिए निर्मित प्रादेशिक सत्ता को समूल नष्ट कर सकती है। संक्षेप में संविधान के द्वारा नियमित किए गए सत्ताधिकार एकात्म पद्धति में केन्द्र सरकार में एकत्रित रहते हैं और केन्द्र सरकार प्रादेशिक सुविधा के लिए तथा अधिकारों की उचित कार्यवाही के लिए अपने कुछ अधिकार प्रादेशिक स्तर पर प्रशासकों को प्रदान करती हैं। प्रादेशिक प्रशासन के स्वरूप निर्धारण करने के केन्द्र सत्ता के अधिकार इतने असीम होते हैं कि प्रादेशिक सत्ता का संपूर्ण अस्तित्व केंद्र सत्ता पर अवलंबित रहता है।

ब्रिटेन में प्रादेशिक प्रशासन को निश्चित मात्रा में स्वायत्ता दी गई है, लेकिन उनके स्वायत्ता अधिकार संसद के अधीन रहते हैं और संसद के द्वारा ही नियमित किए जाते हैं। संसद अपनी इच्छानुसार प्रदेशों के सत्ताधिकार विस्तारित अथवा मर्यादित कर सकती है। प्रादेशिक सत्ताधिकार पर टिप्पणी करते हुए 'ऑग' ने लिखा है, "प्रादेशिक अधिकारों पर जो केंद्रीय नियंत्रण है वह विस्तृत और गहरा है, इतना ही नहीं वो निरंतर रूप में यह नियंत्रण विविध भागों में विविध स्तरों पर घुसपैठ कर रहा है।"

फ्रांस में कैंटौन्स, कम्यून्स जैसे प्रादेशिक प्रशासनिक स्तर हैं। परंतु फ्रांस के बारे में सोचते समय कह सकते हैं कि वहाँ स्थानिक स्तर पर अत्यंत गौण अधिकार हैं और स्थानिक प्रशासनिक अधिकार केवल मृग-मरीचिका है। फ्रांस की इस शक्तिशाली केंद्रानुवर्ती तथा एकात्म पद्धति पर टिप्पणी करते हुए ऑग तथा झिंक कहते हैं, "संविधान ने स्थानीय अथवा प्रादेशिक प्रशासनों को कोई अधिकार नहीं दिए हैं। संसद तथा मंत्रिमंडल के जरिए कार्यरत होने वाली एकमेव सरकार पैरिस से फ्रांस का शासन चलाती है। स्थानीय और प्रशासनिक स्तर के प्रशासन को सिर्फ केंद्रीय संसद के द्वारा किए गए कानून के द्वारा ही अधिकार प्राप्त होते हैं।"

बेल्जियम, नेपाल, जापान आदि देशों में भी एक ही केंद्रीय सरकार तथा संसद के द्वारा शासन चलाया जाता है। इस संपूर्ण विवेचन से एकात्म शासन की निम्नलिखित विशेषताएँ सामने आती हैं:

**एकात्म शासन पद्धति की विशेषताएँ—**



अ) प्रादेशिक सरकार को संवैधानिक अधिकार नहीं होते। उन्हें प्रदत्त सभी अधिकार केंद्र सरकार के द्वारा कम अधिक मात्रा में विस्तृत या संकुचित किए जा सकते हैं।

आ) प्रादेशिक सरकार के अधिकार निश्चित करते समय, प्रशासनिक सुविधा यह एकमात्र निकष करता है। अतः केंद्र सरकार प्रादेशिक स्तरों पर वितरित अधिकारों को वापस ले सकती है। इस प्रकार अधिकार वापस लेने या बढ़ाने के लिए संसद के द्वारा पारित किए गए कानून पर्याप्त होते हैं।

इ) एकात्म शासन में केंद्रसत्ता शक्तिशाली होती है और वह प्रादेशिक प्रशासन का संपूर्ण नियमन और नियंत्रण करती है।

ई) एकात्म शासन में सिर्फ एक ही संसद होती है, इसलिए एक ही कानून केंद्रीय, राज्यीय तथा प्रादेशिक ऐसे दो स्तरों पर नहीं होता।

उ) केंद्रीय सत्ता द्वारा प्रदत्त अधिकारों को प्रादेशिक सरकारों से वापस लेने पर, प्रादेशिक सरकार किसी भी प्रकार से, किसी भी माध्यम से न्यायालयी या अन्य, शिकायत नहीं कर सकती।

### **एकात्म शासन के गुण-दोष-**

अ) गुण-

1. दृढ़ केंद्रसत्ता के कारण एकात्म शासन अत्यंत प्रभावी रीति से कारोबार संभाल सकता है। संपूर्ण सत्ता केंद्र सत्ता में संगठित होने से यह पद्धति अत्यंत सुविधाजनक रही है। इस पद्धति में परिस्थिति के अनुसार निर्णय लेने का सामर्थ्य मध्यवर्ती सत्ता में होने से किसी भी कठिन परिस्थिति का सामना करने के लिए आवश्यक लचीलापन प्रचुर मात्रा में होता है। राज्य को नित नई कठिन एवं जटिल स्थितियों का मुकाबला करते समय प्रशासन में

- परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन करने पड़ते हैं। एकात्म शासन में ऐसे परिवर्तन के अमर्यादित अधिकार केंद्रीय सत्ता के रहते हैं। इसलिए किसी भी प्रकार की परिस्थिति के साथ समझौता करना और कठिनाईयों पर मात करना संभव होता है।
2. एकता इस शासनपद्धति का प्रमुख गुण है। संपूर्ण सत्ता एक ही स्तर पर केंद्रित होने से सत्ता संघर्ष या मुठभेड़ की संभावना नहीं होती। इस पद्धति में कानून, नीति तथा प्रशासन में काफी सुसंवाद निर्माण होता है। राष्ट्रीय सुरक्षा और परराष्ट्र नीति की दृष्टि से एकात्मक शासन अत्यंत प्रभावी रहता है। नीति को निर्धारित करने के अधिकार एक ही सत्ता के पास होने से सुरक्षा और विदेश नीति के संदर्भ में दीर्घकालीन तथा देश के लिए उपकारक और स्थिर नीति की योजना तथा कार्यवाही संभव होती है।
  3. शीघ्र निर्णय क्षमता और उसे दृढ़ता से कार्य में लाने की शक्ति को एकात्म शासनपद्धति का और एक गुण माना जाता है।
  4. सत्ता का एक ही केंद्र होने से राष्ट्रीय ऐक्य भावना बढ़ सकती है। राष्ट्रीय संकट के समय केंद्रीय सत्ता को लोगों का समर्थन मिलता है और संकट पर मात की जा सकती है। एकत्रित केंद्रीय सत्ता के कारण समाज में ऐक्य और राष्ट्रीयता की भावना का निर्माण होता है। एक ही सत्ता होने से प्रादेशिक अहंकार की रक्षा नहीं हो पाती।
  5. एकात्म शासन पद्धति की संरचना सरल तथा सुविधाजनक होने से वह किफायती है। केंद्रीय तथा प्रादेशिक स्तर पर शासनसंस्थाओं की पुनरावृत्ति टलने से प्रशासनिक खर्च में काफी बचत होती है।

आ) **दोष—**

1. एकात्म शासनपद्धति के केंद्रीकरण की कई कारणों से आलोचना की गई है। अतिरिक्त केंद्रीकरण से स्थानीय स्तर के प्रशासन में नेतृत्व की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं मिलता।

इतना ही नहीं केंद्रसत्ता की नीतियों पर अमल करनेवाले नौकरशाहों का महत्व बढ़ता है।

2. इस पद्धति में स्थानीय स्तर के प्रशासन को संविधानिक स्वायत्त अधिकार नहीं दिए जाते। इससे स्थानीय नेतृत्व को प्रशासनिक अनुभव नहीं मिलता। वस्तुतः स्थानीय समस्याओं को अच्छी तरह से सुलझाया जा सकता है।

उपरोक्त आलोचना के बावजूद एक बात निश्चित है कि एकात्म शासन पद्धति के द्वारा भी स्थानीय प्रशासन को अधिकार देना संभव होता है। स्थानीय प्रशासन को ज्यादा अधिकार देने की दृष्टि में केंद्रीय सत्ता पर कोई पाबंदी नहीं होती। आज दुनिया की विविध शासन प्रणालियों का अवलोकन करने से स्पष्ट होता है कि सीमित भूप्रदेश वाले राज्यों ने अधिकतर एकात्म शासनप्रणाली को स्वीकार किया है। क्योंकि छोटे भूप्रदेश के कारण राज्यों को एकत्रित रीति से केंद्रीय सत्ता के द्वारा राज्य का करोबार चलाना सुविधाजनक रहता है। साथ ही स्थानीय प्रदेशों को ज्यादा अधिकार देने की जरूरत भी महसूस नहीं होती। जिन राज्यों के भूप्रदेश बड़े विस्तृत, खंडप्राय हैं वहाँ स्थानीय प्रदेशों को ज्यादा अधिकार देना व्यावहारिक दृष्टि से उचित और लाभदायी होता है। इस परिस्थिति पर इलाज के रूप में भौगोलिक, भाषिक, सांस्कृतिक दृष्टि से भिन्न प्रदेश एकत्रित होने से भारत, अमेरिका जैसे देशों ने संघराज्यीय शासनप्रणाली स्वीकार की है और स्थानीय प्रशासकों को कुछ संविधानिक स्वायत्त अधिकार दिए हैं। जहाँ स्थानीय प्रशासन को संविधान के द्वारा कुछ निश्चित अधिकार और प्रशासनिक कार्य सौंपे गए हैं वहाँ हम कहते हैं कि ऐसे राज्यों ने संघराज्यीय शासनपद्धति को स्वीकार किया है।

### संघराज्यीय शासन—पद्धति

अनेक बार 'संघराज्यवाद' का उल्लेख पढ़ने में आता है परंतु इसके मतलब यह नहीं कि यह एक राजनीतिक प्रणाली अथवा 'वाद' है। 'संघराज्य', 'संघराज्यवाद' या 'संघराज्यीय राज्यप्रणाली' आदि

अनेक शब्द व्यवहार हैं। परंतु ध्यान में रखना होगा कि संघराज्यीय पद्धति राज्य कारोबार चलाने के लिए निर्मित एक व्यवस्था है। इस व्यवस्था में विविध सांस्कृतिक, भाषिक, वाचिक अथवा प्रादेशिक गुटों का अस्तित्व मान्य करके संविधान के द्वारा ऐसे संगठनों के अधिकार प्रादेशिक सीमाओं की निश्चिती के साथ मान्य किए जाते हैं। ये अधिकार संविधान के द्वारा निश्चित होते हैं, इसलिए उनपर अतिक्रमण होने पर संबंधित प्रादेशिक प्रशासन को न्यायालय के द्वारा सुरक्षा देने की योजना रहती है। एकात्म और संघराज्यीय पद्धति में ठीक यही अंतर है। एकात्म शासन-पद्धति में प्रादेशिक स्तर के प्रशासनों को जो अधिकार दिए गए हैं वे संविधान के द्वारा नहीं बल्कि केंद्रीय सत्ता द्वारा अपने कारोबार की सुविधा की दृष्टि से दिए जाते हैं। इसलिए केंद्रीय सत्ता अपनी मर्जी के अनुसार इन अधिकारों को वापस ले सकती है। इसके विपरीत संघराज्यीय पद्धति में प्रादेशिक स्तर के प्रशासनों के अधिकार संविधान के द्वारा निश्चित किए जाते हैं, इसलिए उन्हें संविधान के द्वारा और पर्याय से संविधान के द्वारा निर्मित न्यायालयों के द्वारा सुरक्षा मिलती है। प्रादेशिक प्रशासन के सुनिश्चित अधिकारों पर केंद्रीय सत्ता अथवा अन्य प्रादेशिक सरकारों द्वारा अतिक्रमण होने से संबंधित प्रशासन आक्रमणकारी प्रशासक के विरोध में न्यायालय से सुरक्षितता माँग सकती है।

उपरोक्त वर्णन से संघराज्यीय शासन पद्धति की निम्नलिखित विशेषताएँ सामने आती हैं:

### संघराज्यीय शासन पद्धति की विशेषताएँ—

#### अ) लिखित तथा कड़ा संविधान—

केंद्रीय सत्ता और घटक राज्यों के आपसी संबंध लिखित संविधान के द्वारा निश्चित किए जाते हैं। जिस परिस्थिति में संघराज्यीय प्रणाली साकार होती है, उसे देखने पर स्पष्ट होता है कि संघराज्य से सहयोगी घटक राज्य अपनी सांस्कृतिक, भाषिक और प्रादेशिक स्वायतत्ता की हामी और ऐसी स्वायत्ता यकीनन सुरक्षित रहने की दृष्टि से प्रबंध, साथ ही अपने स्वायत्त अधिकारों के प्रति सजग रहना स्वाभाविक ही है। इस प्रकार की स्वायत्तता और तदनुषंगिक अधिकारों का सुस्पष्ट

विवेचन सिर्फ लिखित संविधान के द्वारा ही संभव है। लिखित संविधान की विविध धाराएँ और व्यवस्था के द्वारा ही केंद्र तथा प्रादेशिक राज्यसत्ता का विभाजन लिखित स्थायी रूप में ग्रथित रहता है। ग्रथित किया गया सत्ता का विभाजन बार-बार परिवर्तित न हो, इसके लिए संविधान का स्वरूप परिदृश्य, कड़ा रहता है। सामान्य कानून के जरिए संविधान परिवर्तित नहीं कर सकते। संविधान के द्वारा संविधान-परिवर्तन की विशिष्ट पद्धति (2/3 बहुमत या घटकाराज्यों की मान्यता) तय की जाती है।

आ) **विकेंद्रीकरण-**

एकात्म शासन की विशेषता के रूप में हमने केंद्रीकरण का उल्लेख किया। वैसे ही संघराज्यीय पद्धति का विचार करते समय विकेंद्रीकरण का उल्लेख भी अपरिहार्य है। संविधान के जरिए राज्यशासन के विविध प्रमुख घटकों में, साथ ही केंद्र और प्रादेशिक सत्ताओं के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया जाता है। इस संतुलन के समय प्रादेशिक प्रशासनिक प्रबंध और केंद्रसत्ता तथा शासन संस्था के विविध अंग उनकी भूमिकाएँ और अधिकार स्पष्ट किए जाते हैं। संघराज्यीय पद्धति में सत्ता तथा अधिकारों का न्याय संतुलित बँटवारा जिस पद्धति से किया जाता है उसे सामान्यतया 'विकेंद्रीकरण' कहा जाता है।

इ) **संविधान का अर्थ लगाने का अधिकार वाले उच्चतम न्यायालय का अस्तित्व-**

संघराज्यीय पद्धति में विविध सांस्कृतिक, भाषिक तथा प्रादेशिक संगठनों को एकत्र करने की इच्छा, साथ ही अपने अलग अस्तित्व के एहसास को कायम रखने की प्रवृत्ति इन दोनों का संयोग रहता है। कभी-कभी घटक राज्यों में पानी का बँटवारा, भौगोलिक सीमाओं का निर्धारण आदि कारणों से

और केंद्रसत्ता तथा घटक राज्यों में अधिकार विभाजन उनकी व्याप्ति का निर्धारण आदि कारणों से संघर्ष निर्माण हो सकता है। ऐसे प्रसंगों से मार्ग निकालने के लिए तथा संविधान द्वारा निर्मित सत्ता संतुलन कायम रखने के लिए स्वतंत्र अधिकार रखनेवाली निःपक्षपाती न्याय व्यवस्था जरूरी होती है। विशिष्ट संघर्ष की स्थिति में संविधान के प्रबंधों का उचित अर्थ निकालकर, संघर्ष से मार्ग निकालकर न्याय देना होता है। संविधान का उचित अर्थ लगाकर संघराज्य में घटकराज्यों तथा संघराज्यीय व्यवस्था का हित ध्यान में रखकर संघर्ष सुलझाने का काम सर्वोच्च न्यायालय करता है। इससे विविध घटकराज्यों को अपने अधिकारों के संदर्भ में सुरक्षा की भावना निर्माण होती है, साथ ही निःपक्ष रूप में प्रादेशिक अभिनिवेश के चंगुल में न फँसते हुए किसी भी बात के बारे में उचित निर्णय लिया जाता है।

उपरोक्त विशेषताओं के अलावा भौगोलिक एकता, ऐतिहासिक कारणों से विविध भाषिक, धार्मिक, सांस्कृतिक पृथक हितसंबंधियों में भी एकता की भावना होना विविध घटकों में समता की भावना होना, संघराज्यीय व्यवस्था की कार्यवाही के लिए आवश्यक क्षमता समाज में होना आदि बातें संघराज्यीय पद्धति के अस्तित्व और सफलता के लिए आवश्यक मानी जाती है।

### **संघराज्यीय पद्धति के लिए आवश्यक घटक—**

संघराज्यीय अस्तित्व में आकर सफल होने के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

संघराज्यीय पद्धति में विविध लोकसमूहों में पारस्परिक सहानुभूति की भावना आवश्यक होती है। विविध संगठनों में इस भावना के प्रबल न होने से सांस्कृतिक, भाषिक या धार्मिक दृष्टि से भिन्न लोकसमूहों का एकत्रीकरण होकर सक्षम संघराज्य की निर्मिति असंभव है। संघराज्य की विविध राजनीतिक तथा संविधान के द्वारा संस्थाओं को प्रादेशिक, भाषिक, सांस्कृतिक या धार्मिक भावनाओं

से निर्मित पृथक्तावादी मनोवृत्ति पर मात करनी होती है। ये संस्थाएँ जितनी मात्राओं में इनका मुकाबला कर पाएँगी, उतनी मात्रा में संघराज्यीय पद्धति सफल होगी।

संघराज्य के नाते एकत्र होने की इच्छा रखनेवाले संगठनों में भौगोलिक संलग्नता होना जरूरी है। भौगोलिक संलग्नता के कारण ही सुयोग्य प्रशासन तथा राष्ट्रीय ऐक्य की भावना साकार होती है। भौगोलिक संलग्नता का अभाव होने पर प्रशासनिक कठिनाइयों का निर्माण होता है और राष्ट्रीय ऐक्यभावना में दरार पड़ती है।

### संघराज्यीय शासन पद्धति के गुण-दोष-

#### अ) गुण-

1. अनेक आर्थिक तथा राजनीतिक कमजोरियों को मात देनेवाली करनेवाली शासनव्यवस्था के रूप में संघराज्यीय पद्धति को गौरवान्वित किया जाता है। आज दुनिया के सार्वभौम सत्तावाले राज्यों की आपसी स्पर्धा देखने पर प्रश्न निर्माण होता है कि भौगोलिक साधनसामग्री की दृष्टि से छोटे राज्य अपने अस्तित्व की रक्षा कैसे कर पाएँगे? इस परिस्थिति में अनेक प्रादेशिक संगठन एकत्रित होकर संघराज्य स्थापन करके, एकराष्ट्रीयत्व का विकास करके उपलब्ध साधनों को अंतिम क्षमता तक प्रयुक्त करना ही व्यवहार्य, आदर्श रहता है। वैश्विक स्तर पर कार्यरत संघराज्यीय प्रणाली भले ही अस्तित्व में आए परंतु तब तक आपस के सांस्कृतिक, धार्मिक, भाषिक प्रादेशिक मतभेदों को समाप्त करके संघराज्यीय शासनपद्धति के माध्यम से भौतिक उन्नति करना श्रेयस्कर साबित होता है।

2. संघराज्यीय शासन पद्धति की नींव में अनेकता में एकता का तत्व है। भौगोलिक दृष्टि से विस्तृत और संलग्न भूप्रदेश में अगर धार्मिक, सांस्कृतिक, भाषिक या अन्य प्रकार के विभिन्न लोकसमूहों को एकत्रित करना है तो अनेकता में एकता का संघराज्य का मूलतत्व ही हमें उपयुक्त होगा।
3. संघराज्यीय संविधान में सत्तासंतुलन पर बल रहता है। इसलिए शासन का कोई भी विशिष्ट अंग अनावश्यक रूप में अधिक शक्तिशाली, जुलमी बनने का धोखा नहीं रहता।
4. संघराज्यीय पद्धति में प्रादेशिक स्वायत्ता कहती है। इससे मूलभूत जनतांत्रिक शिक्षा देनेवाले लोगों को प्रशासन में सहयोग कराने वाली राजनीतिक संस्थाएँ निचली सतह से तक विद्यमान रह सकती हैं। साथ ही लोगों को जनतांत्रिक जीवनपद्धति के अनुकूल राजनीतिक, सामाजिक पाठ मिलते हैं।

आ) दोष—

1. संघराज्य का संविधान निर्माण करते समय विशिष्ट परिस्थिति को सामने रखकर व्यवस्था तथा धाराएँ निश्चित करके सत्ताधिकारों का विभाजन करना पड़ता है। विशिष्ट समय के बाद सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति परिवर्तित होने से संविधान में सम्मिलित सत्ताधिकारों का विभाजन करनेवाली धाराएँ और व्यवस्थाएँ कालबाह्य होने की संभावना रहती है। संविधान में कालबाह्य व्यवस्था परिवर्तित करने के लिए पर्याप्त प्रबंध न हो तो अधिकारक्षेत्र के निर्णय को लेकर केंद्र तथा राज्यसरकार में और शासन के विविध क्षेत्रों में संघर्ष निर्माण होता है।
2. संघराज्य में लिखित और परिदृढ़ संविधान के द्वारा सत्ता विभाजन होता है। संविधान को सत्ता-विभाजन-करार का स्वरूप प्राप्त होता है। संविधान में समयानुकूल परिवर्तन करने के लिए संविधान की परिदृढ़ता और संविधान परिवर्तन की संश्लिष्ट पद्धतियाँ बाधा बनती हैं। कभी-कभी घटकराज्य हठीली भूमिका लेकर संविधान के इष्ट परिवर्तन



में बाधाएँ निर्माण कर सकते हैं। उदाहरण अमेरिका में संसद ने 1924 में बाल मजदूरी संबंधी प्रबंध बदलने के लिए संविधान-सुधार विधेयक प्रस्तुत किया। इस सुधार को 28 राज्यों की मान्यता मिलते-मिलते 1937 का वर्ष आ गया। मतलब एक सही कदम बढ़ाने के लिए पूरे 13 साल लगे। साथ ही अमेरिका के संविधान-प्रबंध के अनुसार 13 छोटे घटक राज्य (अमेरिका के घटकराज्यों के आकार में काफी फर्क है) एक साथ आकर बहुसंख्य घटकराज्यों के द्वारा प्रस्तुत संविधान सुधार का विरोध करके उन्हें बरखास्त कर सकते हैं।

3. संघराज्यीय संविधान में सत्ता विभाजन के तत्त्वानुसार सत्तासंतुलन स्थापित किया जाता है। सत्ता विभाजन से शासन के रूप में निर्णय प्रक्रिया में आवश्यक सूत्रता नहीं रहती। शासन का स्वरूप एक आयामी न रहकर बहुआयामी हो जाता है। उसी में से प्रशासन के विविध अंग केंद्र तथा घटक राज्यों में संघर्ष निर्माण होता है।
4. अगर घटकराज्य ने परराष्ट्र नीति के किसी मुद्दे पर केंद्र सरकार से भिन्न भूमिका ले ली तो संसार में केंद्र सरकार की प्रतिष्ठा धोखे में आ जाती है।
5. सरकारी काम केंद्रीय तथा प्रादेशिक, इन दो स्तरों पर होते हैं। इससे काम में पुनरुक्ति होती है, एकसूत्रता तो रहती ही नहीं है। बल्कि ऐसी व्यवस्था काफी महँगी रहती है।
6. संघराज्यीय शासनपद्धति में घटकराज्यों का स्थायी विलयन होता है, फिर भी प्रादेशिक, भाषिक, वांशिक, धार्मिक, सांस्कृतिक बातों पर आधारित विभाजन की प्रवृत्ति उभरती है और एकराष्ट्रीयता की भावना को तथा संघराज्य की राजनीतिक एकता को हानि पहुँच सकती है।

विश्व के विविध संघराज्य—

विश्व में अमेरिका ने सर्वप्रथम आधुनिक दृष्टि से संघराज्यीय शासनपद्धति प्रस्तुत की (1787) 1776 तक अमेरिका के 13 उपनिवेशों ने स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए ब्रिटिशों का मुकाबला करना ठान लिया तब उन्हें अपने स्वतंत्र अस्तित्व को कायम रखकर राष्ट्र निर्माण की जिम्मेदारी उठानी पड़ी। इसी प्रक्रिया से अमेरिका के संघराज्य का उदय हुआ। प्रारंभ में इन 13 उपनिवेशों ने महासंघ के रूप में ही व्यवस्था का निर्माण किया। परंतु ब्रिटिशों से लड़ते वक्त जो एकता की भावना पैदा हुई, एक उदित हुई राष्ट्र के रूप में रहने की इच्छाशक्ति का निर्माण हुआ उससे आज अमेरिका का संघराज्य प्रस्तुत हुआ। वॉशिंगटन, हैमिल्टन, मेडिसन आदि अमेरिका के संघराज्य तथा राष्ट्रीय भावना के पितामह हैं।

अमेरिका के बाद कनाडा ने इस पद्धति को अंगीकार किया है। वहाँ उपनिवेश थे। उनमें मुख्यतः ब्रिटिश और फ्रेंच लोग रहते थे। उनमें आपसी संघर्ष हुआ। इस संघर्ष को मात करके सुरक्षा और आर्थिक हितसंबंधों की रक्षा को साध्य करने के लिए लिए इस संघराज्य का निर्माण हुआ। (1867) उससे पहले अमेरिका के संघराज्य में गृह-युद्ध हुआ था। उससे सबक लेकर अमेरिका की तुलना में इसमें केंद्र सरकार को अधिक मजबूत बनाया गया। हर घटकराज्य में 'लेफ्टिनेंट गवर्नर' के पद का निर्माण किया गया। इन गवर्नरों हर्नरों को प्रादेशिक विधिमंडल के द्वारा पारित कानूनों को कार्यवाही पूर्व अत्यावश्यक अनुमति का अधिकार दिया गया। लेफ्टिनेंट गवर्नर अनुमति नकार सकता था। इससे केंद्र सरकार का राज्यों पर नियंत्रण रहने में मदद मिली।

रूस ने भी संघराज्यीय पद्धति को स्वीकार किया। तथा केंद्र सरकार को विदेश व्यवहार, राष्ट्रीय आर्थिक नियोजन आदि प्रमुख अधिकार हैं। प्रादेशिक शासकों को भी स्वतंत्र अधिकार दिए गए हैं। रूस में भी विभिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक तथा अन्य संगठनों को एकत्रित करने के लिए संघराज्यीय पद्धति को अपनाया गया है।

भारत ने भी वैशिष्ट्यपूर्ण संघराज्यीय पद्धति का अवलंब किया है। अन्य संघराज्यों की तुलना में यहाँ घटक राज्यों की अपेक्षा केंद्र सरकार के पास ज्यादा अधिकार हैं। विदेशी आक्रमण से अथवा अंतर्गत सुरक्षा बाधित होने से, आर्थिक कठिनाई होने से आपातकाल की घोषणा करने का प्रबंध भारतीय संविधान में है। उपरोक्त में से विशिष्ट कारणों से प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति आपातकाल की घोषणा करते हैं और ऐसी स्थिति में घटकराज्यों के अधिकारों को स्थागित करना अथवा वापस लेना केंद्र सरकार के लिए संभव होता है तथा आपातकालीन स्थिति में भारत एकात्म पद्धति से काम कर सकता है। इस व्यवस्था पर आलोचना की जाती है कि यह तानाशाही केंद्रीकरण की तरफ झुकनेवाली व्यवस्था है। परंतु संविधानकर्ता चाहते थे कि आपातकाल का प्रबंध अपवादात्मक तथा राष्ट्रीय आपत्ति के समय ही किया जाए। संविधान-समिति की चर्चा पढ़ने पर यह बात सामने आती है। सामान्य परिस्थिति में भारत संघराज्यीय शासनपद्धति की कार्यवाही करता है।

आज विश्व के संघराज्यों में केंद्रीकरण की तरफ झुकाव है। इस संदर्भ में कल्याणकारी राज्य की कल्पना स्वीकारने से सरकार जिम्मेदारी बढ़ी, उससे संबंधित केंद्र सरकार की जिम्मेदारी में बढ़ौती हुई जागतिक स्पर्धा से केंद्र सरकार के विषयों को विदेश व्यवहार, व्यापार, सुरक्षा आदि को प्राप्त असाधारण महत्व आदि कारण दिए जा सकते हैं।

### **संघराज्यीय तथा एकात्मशासन पद्धति का तुलनात्मक अनुशीलन**

एकात्म और संघराज्यीय शासनपद्धति में तुलना करने पर हमारे सामने एक महत्वपूर्ण मुद्दा आता है कि एकात्म पद्धति का झुकाव केंद्रीकरण की तरफ तो संघराज्यीय पद्धति का झुकाव विकेंद्रीकरण की तरफ रहता है। एकात्म शासनपद्धति में एकमेव केंद्र सरकार अस्तित्व में रहती है और वही अपने कुछ अधिकार प्रादेशिक प्रशासन को दे देती है। केवल प्रशासनिक सुविधा के लिए ये

अधिकार दिए जाते हैं। उसे संविधानिक आधार नहीं है। केंद्र सरकार अपनी मर्जी और सुविधा के अनुसार प्रादेशिक प्रशासनों की सीमाओं को बदलना, उनके अधिकार कम अधिक करना आदि सभी अधिकार निरंकुश रूप में प्रयुक्त कर सकती है।

इसके विपरीत संघराज्यीय शासनपद्धति में केंद्र तथा राज्यों का अधिकार विभाजन संविधान के द्वारा नियंत्रित किया जाता है। संविधान के द्वारा किए गए अधिकार विभाजन के प्रतिकूल यदि कोई निर्णय केंद्र अथवा घटक राज्य ने ले लिया तो न्यायालय स्वतंत्र रूप से ऐसे निर्णयों का मूल्यमापन करता है। तथा उसे पूर्णतः अथवा संविधान से प्रतिकूलता या विसंगति की मात्रा में खारिज कर सकता है। इस संविधानिक प्रबंध के कारण संघराज्य में घटकराज्यों के शासकीय अधिकार अधिक सुरक्षित रहते हैं।

## भारतीय जनतंत्र: ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

प्रथम भाग में हमने जनतांत्रिक विचार को आत्मसात किया। अब इस दूसरे भाग में भारत में आधुनिक जनतंत्र शासन-प्रणाली का उदय तथा विकास को देखा जाएगा। आज का भारतीय जनतंत्र मुख्यतः डेढ़ सौ वर्षों के ब्रिटिश आधिपत्य का परिणाम है। यह वस्तुस्थिति है कि ब्रिटिशों ने भारत का आर्थिक शोषण किया लेकिन इसे भी नकारा नहीं जा सकता कि फिर भी ब्रिटिशों ने ही देश की राजनीतिक तथा भौगोलिक एकता को गतिशील बनाया। भारत में पंचायत स्थानीय प्रशासन के रूप में ग्राम स्तर पर जनतांत्रिक संस्थाएँ विद्यमान थीं परंतु देशभर में सर्वत्र उनका स्वरूप एक जैसा नहीं था। अलग-अलग भागों में विद्यमान इन संस्थाओं की कार्य पद्धतियाँ विभिन्न थीं। ब्रिटिशों के आधिपत्य में ही देशभर में एक जैसी राजनीतिक व्यवस्था, न्याय-व्यवस्था तथा सेना-व्यवस्था कायम हुई। इंडियन पीनल कोड, क्रिमिनल प्रोसीजर कोड, इंडियन सिविल कोड, सिविल प्रोसीजर कोड आदि कानूनों के जरिए न्यायसंस्थाओं का सशक्तीकरण हुआ और कानून का राज्य प्रस्थापित हुआ। स्थानीय तहसील स्तर के न्यायालयों से लेकर जिला न्यायालय, उच्च न्यायालय तथा सर्वोच्च न्यायालय जैसी 'अपीलेट' न्यायालयों की यथायोग्य श्रृंखलाबद्ध श्रेणी अस्तित्व में आई और न्यायदान में स्थित मनमानी और विषमता आदि के स्थान पर कानून के जरिए न्याय तथा कानून के सामने सभी समान जैसी भावनाओं का एहसास होने लगा।

## ब्रिटिश भारत के प्रमुख तथा उनके द्वारा प्रस्थापित शासन प्रणाली का स्थूल अनुशीलन

भारत में प्रस्थापित कंपनी सरकार के निम्नलिखित चार भाग किए जा सकते हैं—

- सन् 1600 से 1765 तक के कालखंड में मुख्यतः व्यापार की नीति अपनाई गई थी। वह बंगाल में दीवानी अधिकार प्राप्त होने तक कायम रही।
- सन् 1765 से 1773 तक के कालखंड में दीवानी अधिकार प्राप्त कराके कंपनी सरकार ने राजनीतिक अधिक्षेप प्रारंभ किया। सन् 1773 में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने 'रेग्युलेटिंग' कानून के द्वारा वैधानिक गतिविधियों का श्रीगणेश किया।
- सन् 1773 से 1784 तक के कालखंड में उपरोक्त रेग्युलेटिंग एक्ट के साथ पिट का कानून निर्माण कराके पार्लमेंट ने अपना नियंत्रण स्थापित करने का प्रयास किया।
- 1875 के आंदोलन को दबाने के बाद अंग्रेज सरकार ने सन् 1858 में अपना एक तांत्रिक अमल प्रारंभ किया।

उक्त में से पहले कालखंड में इंग्लैंड की सम्राज्ञी एलिजाबेथ ने ईस्ट इंडिया कंपनी को 15 सालों का अधिकारपत्र देकर पूर्व के देशों से व्यापार बढ़ाने के अधिकार प्रदान किए। राजा जेम्स ने इस अधिकार-पत्र का नूतनीकरण करके उसे कायम किया। हर तीन साल के बाद अधिकारपत्र का पुनःपरीक्षण करना तय हुआ था।

- इस कालखंड में प्रशासन-अधिकारियों की नियुक्ति करना, उनके द्वारा कारोबार चलाना, अनुशासनहीन नौकर तथा अधिकारियों पर कार्यवाही करना, कंपनी से संबंधित बातों में न्याय देना तथा कंपनी के हितसंबंधों में बाधा निर्माण करनेवालों के खिलाफ युद्ध अथवा सुलह करना आदि पद्धतियों से कामकाज चलाया। सन् 1668 में राजा चार्ल्स ने स्पेन से खंडनी के रूप में प्राप्त मुंबई द्वीप को कंपनी की हुकूमत में दे दिया। कंपनी सरकार के अधिकार, व्यापार तथा सैन्य-शक्ति धीरे-धीरे बढ़ने लगी। उसने भारतीय राजा महाराजाओं से विविध प्रकार के कारोबार करने के अधिकार प्राप्त कराए। माल-गोदामों के लिए परकोटा बांधना, सिक्के निर्माण करना, महसूल एकत्र करना, गढ़ बाँधना आदि वे अधिकार

रहे। इसपर इल्बर्ट ने कहा है कि ब्रिटिशों ने भारत में जो सत्ता हासिल की वह ब्रिटिश पार्लियामेंट तथा राजा और भारतीय राजा-महाराजाओं के माध्यम से हासिल की।

- इसी कालखंड में 1773 में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने रेग्युलेटिंग एक्ट पारित किया। कंपनी का अधिकार-क्षेत्र विस्तृत हो रहा था। उसपर नियंत्रण रखना ही इस कानून का प्रमुख उद्देश्य था। उड़ीसा, बिहार तथा बंगाल में कार्यरत गवर्नरों को पदोन्नति देकर गवर्नर जनरल बनाया गया। मुंबई और मद्रास के गवर्नरों की सहायता के लिए एक परिषद का निर्माण किया गया। बंगाल में फोर्ट विल्यम में उच्च न्यायालय स्थापित किया गया। इस न्यायालय के पास अधिकारियों की नियुक्ति करना तथा कोर्ट ऑफ रेकॉर्ड के नाते काम करना आदि अधिकार थे।

इस कानून ने कंपनी का संविधान बदला। कंपनी पर ब्रिटिश संसद की सत्ता स्थापित हुई। ब्रिटिश शासन को कंपनी का कारोबार कार्यक्रम बनाने की दृष्टि से नियम की प्रक्रिया पर मुहर लगाई गई। भारत के संवैधानिक विकास-पथ का प्रारंभिक महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में रेग्युलेटिंग एक्ट का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

सन् 1784 से 1858 तक का काल दोहरे नियंत्रण का समय है। सन् 1784 में इंग्लैंड के पार्लियामेंट ने पिट्स इंडिया एक्ट पारित किया। इसके जरिए एक छह सदस्यों का नियामक मंडल तैयार किया गया। इस मंडल में अर्थमंत्री राज्यसचिव तथा काउन्सिल के चार इस प्रकार छह सदस्य थे। इस मंडल के द्वारा भारतीय राज्य कारोबार पर नजर रखकर महसूल तथा लस्कर के संदर्भ में नियंत्रण प्रस्थापित किया गया। संक्षेप में कंपनी के सभी तात्कालिक अधिकार मंडल नियामक मंडल के अधिपत्य में लाए गए।

गवर्नर जनरल तथा उसकी परिषद के अधिकार बढ़ाए गए। बंगाल शासन के प्रांतिक अधिकारों पर नियंत्रण रखना और मार्गदर्शन करना आदि काम परिषद के जिम्मे थे। तय हुआ कि

त्रिसदस्यीय परिषद में से एक सदस्य सेना का सरसेनापति रहे। गवर्नर जनरल अथवा गवर्नर को वापस बुलाने का अधिकार ब्रिटिश राजा के पास था। छह सदस्यों का मंडल और त्रिसदस्यीय परिषद के पारस्परिक संबंधों के बारे में कानून में स्पष्टता नहीं थी।

हर बीस सालों के बाद 1773 के कानून का पुनरीक्षण करने की सुविधा रेग्युलेटिंग एक्ट में थी। तदनुसार 1773, 1813, 1833 तथा 1853 में ब्रिटिश सरकार ने जिन अधिकारों को (सनदों को) कार्यन्वित किया उसके अनुसार उनकी कार्यवाही की दृष्टि से रेग्युलेटिंग एक्ट में कुछ सुधार किए गए। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

- नियामक मंडल के सदस्य तथा अधिकारियों का वेतन भारतीय कोषागार से दिया जाए (1793 का अधिकार-पत्र)
- 1813 के अधिकारपत्र के द्वारा कंपनी एकाधिकार समाप्त करने के प्रयत्न हुए। उसके अनुसार चीन के अलावा भारत सहित अन्य देशों में व्यापार करने की कंपनी की ठेकेदारी समाप्त की गई।
- 1833 के सनद के अनुसार कंपनी को फिर से अधिकारपत्र दिया गया। इसे देने से पहले कंपनी की राजकीय सत्ता को कम करने के लिए दबाव था। लॉर्ड मैकॉले ने उसका प्रतिवाद किया। इसी कालखंड में इंडियन पीनल कोड, सिविल प्रोसीजर कोड तथा क्रिमिनल प्रोसीजर कोड आदि कानूनों का निर्माण हुआ।
- 1853 के सनद के द्वारा यह सिफारिश की गई कि जब तक ब्रिटिश संसद भारतीय प्रशासन के बारे में कोई ठोस निर्णय नहीं लेती तब तक राजा ही विश्वस्त के रूप में कारोबार देखेंगे। कंपनी के डायरेक्टर मंडल की संख्या 18 से 24 तक बढ़ाई गई और राजा के द्वारा अधिक डायरेक्टरों को नियुक्ति करना तय हुआ।



- रानी का आज्ञापत्र: इस सनद के बाद भारत में 1857 का संग्राम हुआ। ब्रिटिशों ने उसे दबाया। आगे चलकर 1858 में कानून के जरिए भारत में ब्रिटिश आधिपत्य में प्रशासन प्रणाली प्रस्तुत हुई। उसका ऐलान 1 नवंबर 1858 के दिन रानी के आज्ञा-पत्र के द्वारा हुआ।

### इसके प्रमुख प्रबंध निम्नानुसार हैं-

- भारत के मंत्रियों के लिए 15 सदस्यीय मंडल नियुक्त किया गया।
- कंपनी का लस्कर और आरमार ब्रिटिश राजसत्ता को सौंपा गया।
- संस्थानों का ,खात्मा करने की डलहौसी की नीति को बंद किया गया।
- संस्थानिक तथा सामंतों के दत्तक लेने के अधिकार को मान्य किया गया।
- संस्थानिक के लस्कर रखने के अधिकार कम किए गए।
- भारतीयों के धार्मिक स्वातंत्र्य की घोषणा की गई।
- आज्ञा-पत्र में एक स्थान पर लिखा है कि "भारतीयों की समृद्धि ही हमारी शक्ति है, उनका संतोष और उनकी रक्षा ही हमारा पुरस्कार है।

### सन् 1909 से पहले के कानून-

1858 से 1909 तक के कालखंड में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारत का प्रशासन चलाने की दृष्टि से 1861 तथा 1892 में कानून बनाए। 'प्रातिनिधिक सरकार' हो इस विचार धारा का ब्रिटेन की राजनीति और राज्यकर्ताओं पर प्रभाव था। लेकिन राज्यकर्ताओं को नहीं लगता था कि भारत तथा अन्य पूर्ववर्ती उपनिवेशों में प्रातिनिधिक सरकार हो। अतः लोकप्रतिनिधियों के हाथों सहसा सत्ता का हस्तारण भी संभव न था। ब्रिटिश राजनीतिज्ञ लॉर्ड गिंबलों ने कहा है-'यूरोप जितने भौगोलिक आकार वाले भारत जैसे महाद्वीप में जहाँ असंख्य भिन्न वर्गीय लोग रहते हैं, वहाँ जिम्मेदारी की राज्य पद्धति अर्थात् मनुष्य के मन में निर्मित एक अत्यंत कमाल की असंभाव्य कल्पना है।' कुल

मिलाकर ब्रिटिश राज्यकर्ता भारत में प्रभावी प्रातिनिधिक शासन निर्माण करने के पक्ष में नहीं थे। फिर भी अल्प रूप में प्रातिनिधिक शासन स्थापित होने की प्रक्रिया का धीमी गति से प्रारंभ हुआ। सन 1885 में भारत में काँग्रेस की स्थापना हुई। भारत का नवशिक्षित वर्ग काँग्रेस की ओर आकर्षित हुआ। जनतंत्र स्वातंत्र्य तथा उदारमतवाद से प्रभावित इस नवशिक्षित वर्ग के द्वारा जनतांत्रिक संस्था स्थापित कराने की माँग होने लगी।

### सन् 1861 के प्रमुख कानूनी प्रबंध—

- गवर्नर जनरल के कार्यकारी मंडल की संख्या पाँच की गई। पाँचवा सदस्य कानूनी रूप से होना जरूरी था।
- कानून बनाने के लिए छह से अधिक तथा बारह से कम सदस्य नियुक्त करने का अधिकार दिया गया।
- इस कानून के क्षेत्र में भारतीय, ब्रिटिश तथा अन्य विदेशी लोग, सरकारी नौकर, ब्रिटिश भारत के आधिपत्य में रहा कोई भी स्थान, वस्तु आ सकती थी।
- मध्यवर्ती तथा प्रांतिक दो स्तरों पर विधिमंडल की योजना थी। परंतु दोनों स्तरों पर प्रयुक्त करने की दृष्टि से स्वतंत्र प्रशासकीय विषयों की सूचियाँ बनाई गईं।
- मुंबई, कोलकता तथा मद्रास में उच्च न्यायालय स्थापित किए गए।

### 1892 का कानून—

सन् 1861 के कानून के जरिए जनतांत्रिक शासन प्रणाली की नींव डाली गई। जनतंत्र का प्रारंभ ही इस कानून का बडप्पन रहा। इसमें विधिमंडल छोटा था। विधिमंडल के द्वारा पारित विधेयक को पूर्णतः अथवा अंशतः नकारने का अधिकार गवर्नर जनरल के कार्यकारी मंडल के पास था। अतः प्रातिनिधिक जनतंत्र की कल्पना से वह काफी असंगत था।

सन् 1892 में उपरोक्त प्रबंध में कुछ परिवर्तन किए गए। सदस्य-संख्या बढ़ाई गई। फिर भी भारत जैसे विस्तृत भौगोलिक देश की दृष्टि से यह संख्या गौण थी।

### 1892 के कानूनगत प्रबंध—

- मध्यवर्ती विधिमंडल में सदस्यों की संख्या अधिक से अधिक 16 की गई। इसमें 6 सरकारी तथा 10 गैरसरकारी सदस्यों का प्रावधान था। मुंबई, मद्रास, बंगाल, वायव्य सरहद प्रांत, बंघमदेश तथा पंजाब आदि विधिमंडलों से प्रत्येक की एक तथा एसोसिएटेड चेंबर ऑफ कॉमर्स से नियुक्त एक, साथ ही अन्य नौ प्रतिनिधि परिषद रहते थे। परिषद अधिकारियों में खुद गवर्नर जनरल, कार्यकारी मंडल के छह सदस्य, सरसेनापति तथा प्रांतों के लेफ्टिनेंट गवर्नर अथवा अधिकारी आदि कुल नौ सदस्य रहते थे। संक्षेप में विधिमंडल की संख्या 25 हो गई।
- मुंबई, मद्रास तथा बंगाल के सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या 20 रखी गई। अन्य प्रांतों में यह संख्या अधिकतम 15 की गई। नौ सरकारी, 4 नियुक्त गैरसरकारी तथा 7 चुने गए इस प्रकार यह विभाजन रहा। जिला लोकल बोर्ड, नगरपालिका, विद्यापीठ तथा चेंबर ऑफ कॉमर्स के नए मतदार संघ बनाए गए। मतदारसंघों से चुने गए प्रारंभिक प्रभावी नेता गोपाल कृष्ण गोखले, फिरोजशाह मेहता, दिनशा वाच्छा आदि ने कामकाज में प्रमुख भूमिका निभाकर विधिमंडल पर अपनी मोहर लगा दी।
- सदस्यों को कार्यकारी मंडल से प्रश्न करने की सुविधा थी। बजट पर चर्चा होती थी। परंतु चर्चा का अधिकार सीमित था। 'सर्वजन हित में बाधक' होने का बहाना बनाकर गवर्नर देना टाल सकता था। चर्चा द्वारा चलाया गया शासन, इस जनतंत्र की संकल्पना अल्प रूप में भी क्यों न हो कार्यरत हुई। यही इस कानून का फल माना जा सकता है।

## ब्रिटिश आमदनी के सन 1909, 1919 तथा 1935 के सुधार कानून

सन 1909, 1919 तथा 1935 में भारतीयों को संवैधानिक प्रक्रिया में समाविष्ट करने की दृष्टि से जो कानून ब्रिटिशों के द्वारा पारित किए गए, उनका भारतीय संविधान पर कम-अधिक मात्रा में प्रभाव दृष्टिगत होता है। इनमें से 1935 के कानून का सर्वाधिक प्रभाव रहा है। भारतीयों को राज्यकारोबार में समाविष्ट कराने की तसल्ली देते हुए, धीरे-धीरे भारतीयों को व्यापक अधिकार देने का मानस दर्शाने के हेतु सन 1909 तथा 1919 के कानून निर्माण किए गए थे। सन 1909 तथा 1919 के कानून के जरिए यद्यपि भारतीयों को महत्वपूर्ण अधिकार नहीं मिले फिर भी उनके महत्व को नकारा नहीं जा सकता। क्योंकि इन कानूनों के द्वारा भारतीयों को जो मर्यादित अधिकार मिले, उनसे भारतीयों को प्रशासन की, राज्य कारोबार की, विधिमंडल के कामकाज की और मुख्यतः जिम्मेदार प्रशासन की पहचान हुई। यह अनुभव-निधि संविधान की निर्मिति के वक्त निस्संदेह काम आई।

### मोर्ले-मिंटो सुधार कानून-1909

इस कानून के द्वारा विधिमंडल की केंद्र तथा राज्य स्तर पर पुनर्रचना की गई। इस विधिमंडल का स्वरूप अधिक लोकप्रातिनिधिक बनाने की दृष्टि से विस्तृत किया गया। केंद्रीय तथा राज्यस्तरीय गैरसरकारी सदस्यों की संख्या में वृद्धि की गई, जो निम्नानुसार रही-

कौन्सिल (विधिमंडल) सदस्यों की पहले की संख्या	1909 के कानून से वृद्धिगत संख्या	1909 के कानून द्वारा गैरसरकारी सदस्यों की संख्या
--	----------------------------------	--

केंद्र में 16	60	32
प्रांत में		अतिरिक्त संख्या
बंगाल 20	50 (अधिकतम)	30
मुंबई 20	50	30
मद्रास 20	50	30
पंजाब 15	30	15
बिहार नव निर्मित प्रांत उड़ीसा नव निर्मित प्रांत	50	50 (अधिकतम)
संयुक्त प्रांत 15	50	35

उपरोक्त सूचि से स्पष्ट होता है कि विविध प्रांतीय विधिमंडल में तथा केंद्रीय विधिमंडल में किस प्रकार सदस्य-संख्या बढ़ाई गई, उसमें भी गैरसरकारी सदस्यों की संख्या कैसे बढ़ाई गई। लोकहित के मुद्दों पर चर्चा करवाना, प्रशासनिक तथा लोकहितकारी मुद्दों पर प्रश्न करना आदि अधिकार प्राप्त हुए। ये सभी प्रबंध भारतीय जनता तथा राष्ट्रीय नेतृत्व की आकांक्षाओं के अनुपात में काफी कम थे। फिर भी इसे नहीं नकारा जा सकता कि सीमित रूप में भी क्यों न हो भारतीयों को संसदीय कामकाज का महत्वपूर्ण अनुभव मिला। कौन्सिल के सदस्यों को प्रश्न पूछने के जो अधिकार प्राप्त हुए उससे कामकाज में जान आ गई तथा जनता का ध्यान भी विधिमंडल के कामकाज की तरफ आकृष्ट हुआ। इस कानून के जरिए सदस्यों के चुनाव अप्रत्यक्ष रीति से कराए जाते थे, अतः भारतीय जनता नाराज थी। साथ ही विधिमंडल में शासकीय सदस्यों की उपस्थिति से खुली चर्चा में बाधा आती थी। प्रस्तुत कानून में ऐसी अनेक विध त्रुटियाँ थीं। फिर भी विधिमंडल की राष्ट्रीय चर्चा के व्यासपीठ के रूप में प्रयुक्ति की कल्पना जनसामान्यों में अंकुरित कराने की दृष्टि से मोर्ले-मिंटो सुधार कानून का काफी उपयोग हुआ।

## भारत सरकार कानून 1919

सन् 1909 के मोर्ले-मिंटो सुधार कानूनों के बाद संविधान की दृष्टि से महत्वपूर्ण कानून रहा सन् 1919 का भारत सरकार कानून (The Government of India Act 1919) ऐसा दर्ज किया जाता है कि भारत में प्रातिनिधिक और जिम्मेदार सरकार की नींव इस कानून के जरिए डाल दी गई। इस कानून के द्वारा कुछ राज्यों में दो-दलीय सरकारें स्थापित की गईं। प्रथमतः भारत के घटक राज्यों को तीन गुटों में विभाजित किया गया। यथा—

गवर्नर के आधिपत्य में स्थित राज्य	लेफ्टिनेंट गवर्नर के आधिपत्य में स्थित राज्य	चीफ कमिश्नर के आधिपत्य में स्थित राज्य
मुंबई	बिहार, उड़ीसा,	असम, मध्यप्रान्त, उत्तर
मद्रास	संयुक्त प्रांत के आग्रा,	पश्चिम सीमावर्ती राज्य,
बंगाल	अवध तथा पंजाब राज्य	ब्रिटिश बलुचिस्तान, दिल्ली अजमेर, मेवाड, कूर्ग तथा अंदमान, निकोबार द्वीप

इनमें से गवर्नरों के आधिपत्य में रहनेवाले मुंबई, मद्रास और बंगाल में साथ ही उत्तर भारत, मध्यभारत, असम, पंजाब, बिहार तथा उड़ीसा राज्यों में द्विदलीय शासन पद्धति जारी की गई। इस पद्धति के अनुसार शासकीय कामों के दो गुट किए गए— (1) हस्तांतरित, (2) आरक्षित। इनमें से आरक्षित कामों में जमीन विषयक तथा महसूल प्रशासन विषयक काम, अकाल के संदर्भ में काम,

जलसिंचन, वन-विकास, न्याय-प्रशासन आदि कामों का समावेश होता है। हस्तांतरित कामों में स्थानीय स्वराज्य संस्था (नगरपालिका, जिला लोकल बोर्ड इ.) स्वास्थ्य, रूग्णालय, सार्वजनिक निर्माण विभाग, सीमा-शुल्क, खेती उद्योग-विकास, सहकारी संस्था विकास आदि कामों का समावेश होता है। इनमें से हस्तांतरित काम गवर्नर जनरल और प्रातिनिधिक मंत्रिमंडल के अधिकार में दिए गए थे। तो आरक्षित काम गवर्नर और उनके मंडल को सौंपे गए थे। इस प्रकार प्रशासनिक विषयों को दो गुटों में विभाजित करने के कारण इस व्यवस्था को 'द्विदलीय' (दो भागों की) कहा गया।

आरक्षित गुट में राज्यस्तर के महत्वपूर्ण विषय थे तथा प्रशासन पर गवर्नर का आधिपत्य रहने वाला था। लेकिन फिर भी अनेक शासकीय विषयों का हस्तांतर प्रातिनिधिक मंडल के पास हुआ, इससे भारतीयों को महत्वपूर्ण प्रशासनिक अनुभव प्राप्त हुआ और जिम्मेदार शासन किस प्रकार चलाया जाता है इसकी छोटी-सी झाँकी देखने को मिली। होमरूल आंदोलन से भारतीयों की उम्मीदें बढ़ गई थीं। साथ ही महायुद्ध में भारतीय सैनिक ब्रिटिशों के पक्ष में लड़े थे, अतः उम्मीद थी कि इसे ध्यान में रखकर ब्रिटिश सरकार अधिक व्यापक और ठोस सुधार जारी करेगी। इन उम्मीदों की तुलना में 1919 का कानून भारतीयों को अपर्याप्त लगना स्वाभाविक था। भारतीय नेताओं ने कानून के संदर्भ में अपनी नाराजगी को स्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया। परंतु ध्यान में रखना होगा कि जिम्मेदार शासन प्रणाली का प्रशिक्षण देने की दिशा में इस कानून में महत्वपूर्ण प्रावधान रखे गए थे।

### **भारत सरकार कानून 1935**

#### **ऐतिहासिक पृष्ठभूमि-**

भारत के संवैधानिक इतिहास पर तथा भारत के संविधान पर अपनी छाप छोड़नेवाला कानून अर्थात् 1935 में पारित किया गया भारत सरकार कानून।

सन 1917 में ब्रिटिशों ने ऐलान किया था कि भारत में क्रमशः जिम्मेदार शासन प्रस्थापित कराना ही हमारा ध्येय है। 1919 का भारत सरकार कानून भारतीयों की उम्मीदों को पूरा नहीं कर पाया। सन् 1920 में म. गांधी जी ने असहयोग आंदोलन की घोषणा की। उसमें उन्हें दो साल का कारावास हुआ।

विधिमंडल के सदस्यों द्वारा इस्तीफा दिया जाना, आर्थिक बहिष्कार, वकीलों के द्वारा वकालत का त्याग, शिक्षा को राष्ट्रीय स्वरूप देना, राष्ट्र की सेवा के लिए कार्यकर्ताओं का संघटन निर्माण करना, राष्ट्रीय निधि एकत्र करना, हिंदू-मुस्लिम ऐक्य आदि विविध स्तरों पर काँग्रेस का संघटन आंदोलन के रूप में कार्यप्रवृत्त हुआ। सरकार को सहयोग देनेवालों के खिलाफ निदर्शन करना, कोर्ट के बजाय समझौते से मुकदमों का फैसला कराने की दृष्टि से लोगों के सहयोग से प्रबंध करना, शराब तथा विलायती माल बेचनेवालों के खिलाफ प्रदर्शन करना आदि विविध काम जनता को सौंपे गए। युवक, स्त्रियाँ तथा समाज के सभी स्तरों के सामान्य से सामान्य लोग भी इस जनआंदोलन में शामिल हुए। खिलाफत आंदोलन के द्वारा हिंदू-मुस्लिमों के व्यापक ऐक्य के दर्शन हुए। लेकिन चौरी-चौरा में जमाव के द्वारा हिंसा के प्रकार हुए अतः गांधीजी ने आंदोलन को वापस लेने का फैसला किया। उनके इस निर्णय की आलोचना हुई। श्री सुभाषचंद्र बोस ने कहा, 'यह राष्ट्रीय आपत्ति है', पं. जवाहरलाल नेहरू चकित तथा दिङ्मूढ़ हुए, तो मानवेंद्रनाथ रॉय ने कहा कि यह निर्णय जनता को नहीं लेकिन नेतृत्व को कमजोर करानेवाला है। कुछ लोगों ने यह भी आरोप लगाया कि जनता का आंदोलन विशिष्ट स्तर पर बढ़ने के बाद कहीं वह उच्चवर्गियों के खिलाफ न जाए इस दृष्टि से गांधीजी ने आंदोलन पर कड़े निर्बंध लादे। इसपर गांधीजी ने नेहरूजी को (अर्थात् आक्षेप लेनेवालों को) समझाया— 'अगर इस मुहिम को अभी रोका नहीं जाता तो शायद हमारा संघर्ष हिंसक बन जाता। हिंसात्मक संघर्ष अनियंत्रित होने की संभावना रहती है, तथा हिंसा करने से सरकार को उसे बलपूर्वक दमित करने का अवसर मिल जाता है। म. गांधीजी को लगता था कि इससे स्वतंत्रता आंदोलन को नुकसान पहुँचेगा।



असहयोग आंदोलन को वापस लेने से समाज निष्क्रियता से ग्रस्त हो गया था। ऐसे वातावरण में फिर से जातिवादी शक्तियाँ उभरने लगीं। सन् 1922 से 1927 के कालखंड में कुछ 112 जातीय दंगे हुए। उनमें 450 लोग मर गए और 5000 लोग घायल हुए। काँग्रेस के द्वारा अस्पृश्यता निवारण, हिंदू-मुस्लिम ऐक्य के प्रयत्न जारी थे। साम्यवादी आंदोलन भी इसमें प्रयत्नशील थे। परंतु इसी समय सरकार ने प्रलोभनों के द्वारा फूट डालने के प्रयत्न किए। फूट डालने वाली शक्तियों ने व्यापक राष्ट्रीय आंदोलन पर बड़ा जबरदस्त आघात किया। सन् 1927 में भारतीयों में ऐक्य प्रस्थापित होने के लिए एक आधार प्राप्त हुआ। भारत में संसदीय जनतंत्र की कल्पना को कहाँ तक कार्यान्वित किया जा सकता है, भारतीय जनतंत्र सुधारों को आत्मसात करने लायक है अथवा नहीं आदि का अध्ययन करके आवश्यक सुधारों का मसौदा तैयार करने की दृष्टि से ब्रिटन के राजा ने सर जॉन सायमन की अध्यक्षता में एक मंडल नियुक्त किया। इसे ही सायमन कमिशन कहा गया। इस कमिशन पर बहिष्कार डाला गया। बहिष्कार के समर्थन में काँग्रेस ने कहा—सभी संबंधित संगठनों की गोलमेज परिषद के द्वारा अथवा संसदीय पद्धति से अपने देश का संविधान निर्माण करने का अधिकार भारतीयों को होना चाहिए। कमिशन नियुक्त करके इस अधिकार को नकारा गया है। स्वराज्य के लिए अथवा जिम्मेदार शासन अंगीकृत करने के लिए भारतीय योग्य हैं अथवा नहीं इसे कोई तीसरा तय करे यह हमें स्वीकार्य नहीं है। साथ ही इस कमिशन में एक भी भारतीय सदस्य का न होना भारतीयों के स्वाभिमान को ठेस पहुँचाता है।”

‘सायमन चले जाओ’ की भर्त्सनापूर्ण घोषणाएँ देकर, सभाओं का आयोजन करके, जुलूस निकालकर, काले झंडे फहराकर भारतीयों ने अपने बहिष्कार को व्यक्त किया। तथापि भारत मंत्री लॉर्ड बर्कनहेड ने चुनौती दे दी कि ‘भारत के दो महान लोगों के अलग-अलग समाजों को बहुतांशी मान्य होने वाले संविधान का मसौदा निर्माण करके दिखाओं।’ इस चुनौती को स्वीकार करके भारत के विविध

मतप्रवाह, काँग्रेस की कार्यकारिणी समिति, मुस्लिम लीग तथा अन्य छोटे-बड़े पक्ष तथा संगठनों ने लखनऊ में अगस्त 1928 को एक परिषद बुलाई और एकमत से नियोजित संविधान का मसौदा तैयार किया। इसे नेहरू-अहवाल कहा जाता है। इसके प्रमुख प्रबंध इस प्रकार थे।

- प्रशासन पर विधिमंडल का प्रभावी नियंत्रण हो।
- संसद के द्वारा सार्वभौम सत्ता अभिव्यक्त हो। संसद के दो सभागृह हों।
- ब्रिटिश साम्राज्य के अंतर्गत जैसे कनाडा, ऑस्ट्रेलिया की संसदों को स्वायत्तता तथा अधिकार दिए गए थे वैसे ही भारतीय संसदगृहों को प्राप्त हों।
- दो सभागृहों में से वरिष्ठ सभागृह के 500 सदस्य लोगों के द्वारा प्रत्यक्ष चुने गए हो तथा अल्पसंख्यकों के जनसंख्या के अनुपात में प्रतिनिधित्व हो।

प्रातिनिधिक संसदीय जनतंत्र का किया गया समर्थन ही इस अहवाल की अहम विशेषता रही। अर्थात् यहाँ ध्यातव्य है कि नेहरू अहवाल के द्वारा ब्रिटिश साम्राज्य की चौखट को कायम रखकर प्रतिनिधित्व का आग्रह रखा गया था। इस अहवाल में आंदोलन के युवा नेताओं का संपूर्ण स्वराज्य का आग्रह समाविष्ट नहीं था। फिर भी इसने सिद्ध किया कि भारत के सभी हितसंबंधियों को एकत्रित करके, एकमत से विविध जाति, धर्म तथा राजनीतिक पक्षों को समान व्यासपीठ पर लाकर व्यवहार्य संवैधानिक उपाययोजना संभव हो सकती है।

सन् 1930 के बाद लोगों के कई आंदोलन हुए। ब्रिटिशों ने पुलिस तथा सेना के दबाव से उसे कुचलने का प्रयत्न किया। ग्रामीण इलाकों में लगान-बंदी के आंदोलन ने जोर पकड़ा। स्थान-स्थान पर दमनचक्र, अत्याचार, घर-बार पर जब्तियाँ आदि का मुकाबला करते हुए सशस्त्र तथा अहिंसक दोनों मार्गों से आंदोलन संघटित हो रहे थे। गुजरात में ब्रिटिशों के जुल्मों से तंग आए किसानों ने घर-बार क्यों छोड़ दिए? तुरंत स्त्रियों ने सीधा-सरल जवाब दे दिया कि 'महात्माजी कैद में हैं इसलिए। पुरुष मंडलियों को अभी भी अपनी आर्थिक शिकायतों की याद थी।

किसी ने कहा कि खेती में लाभ नहीं है और लगान अन्यायकारक है।' एक-दो ने कहा— 'स्वराज्य पाने के लिए।'

सन् 1930 में कराची में काँग्रेस का अधिवेशन में हुआ। इस अधिवेशन में जो राजनीतिक प्रस्ताव रखा गया, उसमें भारतीयों की जिम्मेदार शासन की आकाक्षाएँ व्यक्त की गई थीं। उसके प्रमुख मुद्दे इस प्रकार रहे—

व्यक्ति को मूलभूत अधिकार मिलने चाहिए।

समाज के सभी स्तरों के जातिभेद तथा धार्मिक अन्यायों का निर्मूलन।

प्रादेशिक देशी भाषाओं का विकास तथा भाषानुसार प्रांत रचना।

लगान में कटौती।

बंधुआ पद्धति पर पाबंदी।

नमक पर लगाया गया कर बंद किया जाए।

स्वास्थ्य के लिए पोषक नौकरी की जगह, उपजीविका के अनुकूल न्यूनतम वेतन, बेकारी के काल में उपजीविका का आश्वासन, कामकाज के संदर्भ में आठ घंटों का दिन, सवेतनिक छुट्टियाँ, मजदूरों के खास अधिकारों की रक्षा।

सन् 1930—1933 की कालावधि में एक लाख से अधिक लोगों को कैद करके कारागृह में डाला गया। इसी बीच नवम्बर सन 1932 में ब्रिटिश सरकार ने लंदन में तीसरी गोलमेज परिषद आयोजित की। काँग्रेस ने इस परिषद का बहिष्कार किया था। परिषद में हुए विचारविनिमय के परिणामस्वरूप

भारत को अधिक जिम्मेदार शासन-पद्धति, संसदीय अधिकार दिलानेवाला सन् 1935 का भारत सरकार का कानून निर्माण हुआ।

सन् 1935 के कानून से किसी को भी संतोष नहीं हुआ। ब्रिटिश साम्राज्यवाद का नियंत्रण कम न करते हुए शासन व्यवस्था में लोकनियुक्त मंत्रिमंडल को तथा विधिमंडल को कुछ अधिकार दिए गए थे। लेकिन फिर भी भारत में जिम्मेदार शासन पद्धति के तथा केंद्र और राज्य में सत्ता वितरण के प्रारंभिक सबक सीखने की दृष्टि से भारतियों को 1935 के कानून का थोड़ा प्रभाव दृष्टिगत होता है। अब हम भारतीय संविधान पर प्रभाव डालनेवाले इस कानून की जानकारी ले लेंगे।

सन् 1935 के भारत सरकार के कानून के प्रमुख प्रावधान

सन् 1935 का कानून विस्तार से लिखा गया था। वह पेचिदा था क्योंकि इस कानून के जरिए भारत में एक नई जटिल संघराज्यीय शासन स्थापित होना था। जटिलता का कारण था कि नियोजित संघराज्य में संस्थान तथा प्रांत जैसे दो प्रकार के राज्य अस्तित्व में आनेवाले थे। इनमें से संस्थानी राज्यों के लिए यह बात ऐच्छिक थी कि उन्हें संघराज्य की सदस्यता स्वीकार कर उसमें शामिल होना है या नहीं।

केंद्र में द्विगृही विधिमंडल का प्रावधान था। संघराज्यीय विधिमंडल में 125 सदस्य तथा राज्यपरिषद में 104 सदस्य रहने थे। भारत के ब्रिटिश प्रांत संघराज्यीय विधिमंडल में 250 तो राज्य परिषद में 156 सदस्य चुने जानेवाले थे। भारतीय राज्य से विधिमंडल में चुनाव के माध्यम से सदस्य निर्वाचित होनेवाले थे। परंतु संस्थातर ब्रिटिश राज्यों से जाति के आधार पर सदस्यों को चुनाव के आधार पर विधिमंडल में जाना था।

इस कानून के द्वारा निर्मित संघराज्यीय अधिकारों का वितरण सर्वसाधारण संघराज्यों से भिन्न था। अधिकारों का वितरण करते समय केंद्र की सूची, राज्यों की सूची तथा सामयिक सूची आदि तीन सूचियाँ तैयार करके अधिकारों का वितरण किया गया था। इस तरह का प्रावधान था कि केंद्र-सूची के अधिकार केंद्र सरकार के, राज्य-सूची के अधिकार राज्य सरकारों के तथा सामयिक सूची के अधिकार सामान्यतः दोनों के होंगे। परंतु सामयिक सूची के किसी अधिकार-विषय को लेकर अगर केंद्र तथा राज्य दोनों ने कानून पारित किया तो केंद्र का कानून राज्य-कानून से सर्वोच्च माना जाएगा तथा केंद्रीय कानून को ही लागू किया जाएगा।

केंद्र सरकार में द्विदलीय राज्यपद्धति को प्रारंभ किया गया। सुरक्षा, विदेश नीति, आदिवासी इलाकों के प्रशासन आदि की जिम्मेदारी गवर्नर जनरल तथा त्रि-सदस्यीय मंडल को सौंपी गई थी। अन्य प्रशासनिक विषयों की जिम्मेदारी मंत्रिमंडल पर थी। मंत्रिमंडल का संख्यात्मक आकार 10 तय हुआ था। यह मंत्रिमंडल केंद्रीय विधिमंडल के लिए उत्तरदायी था।

केंद्र में द्विगृहीय विधिमंडल का प्रावधान था। कनिष्ठ सभागृह की अवधि पाँच साल की थी। गवर्नर जनरल अपने अधिकार में इस अवधि को बढ़ा सकते थे। वरिष्ठ सभागृह स्थायी था। हर तीन साल के बाद इस गृह के 1/3 सदस्य अवकाश ग्रहण करते थे।

विधिमंडल के अधिकार अत्यंत सीमित थे। राज्य तथा केंद्रीय विधिमंडल को निम्नलिखित विषयों के बारे में कानून बनाने का अधिकार नहीं था:

- अ. इंग्लैंड के सार्वभौम राजा तथा उनका खानदान,
- ब. सन् 1935 के कानून में परिशोधन,
- क. 1935 के कानून के तहत गवर्नर, गवर्नर जनरल अथवा सचिव के द्वारा प्रस्तुत आदेश।
- ड. सन् 1935 के कानून के मुताबिक निश्चित सीमा तक ही प्रिव्ही कौन्सिल के पास अपील

करने की सुविधा।

- इ. अनेक विषय ऐसे भी थे कि जिनके लिए कानून बनाने से पूर्व नियोजित कानून को विधिमंडल में रखने से पूर्व गवर्नर जनरल की पूर्वानुमति आवश्यक थी।

### ब्रिटिश साम्राज्यवाद का अंत

सन् 1857 का राष्ट्रीय आंदोलन असफल होने के बाद भारत में ब्रिटिशों का एकाधिकारी शासन शुरू हुआ। काँग्रेस की स्थापना के बाद प्रारंभ में वैध, सौम्य माँगों के द्वारा और बाद में लोकसंघटन कराकर उग्र राजनीति के द्वारा भारतीयों ने प्रशासनिक सहयोग, विधिमंडल में अधिक प्रतिनिधित्व आदि माँगें प्रस्तुत करना प्रारंभ किया। सन् 1909, 1919 तथा 1935 के कानूनों के जरिए ब्रिटिशों ने भारतीयों की अत्यल्प माँगें पूरी की। परंतु भारतीयों को प्रशासन में शामिल कराते वक्त तथा वैधानिक सुधार कराते वक्त भी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों ने 'फूट डालो और राज करो' की नीति को नहीं छोड़ा। सन 1909 के मोर्ले-मिंटो सुधार कानून के द्वारा देश में पहली बार मुस्लिम समाज को विधिमंडल में अपना स्वतंत्र प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिला। अतः जाति-धर्मातीत राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न करने में पहुँची। इस पर टिप्पणी करते हुए प्रा. आर.एम्. गोखले कहते हैं— 'इन सुधारों से जातीय मतदारसंघों की राजनीति वृद्धिगत हुई तथा कुछ समय के बाद द्विराष्ट्रवाद का समर्थन करके हिंदुस्तान का विभाजन करना पड़ा और अखंड हिंदुस्तान का विभाजन भारत तथा पाकिस्तान इन दो राष्ट्र-राज्यों में करना आवश्यक हो गया।'

अब तक हमने भारतीयों को प्रशासनिक तथा संवैधानिक अधिकार दिलानेवाले सन् 1909—1919 तथा 1935 के कानूनों के महत्वपूर्ण प्रावधानों का अनुशीलन किया। इन कानूनों का भारतीय संविधान पर कम—अधिक मात्रा में प्रभाव दिखाई देता है।

अब हम सन 1935 से 1950 तक के कालखंड में घटित (भारतीय संविधान की कार्यवाही तक) प्रमुख घटनाओं का परामर्श लेंगे।

### उपनिवेश के अंतर्गत स्वराज्य देने की क्रिप्स की योजना—

जब इस योजना का ऐलान हुआ तब द्वितीय महायुद्ध जारी था। ब्रिटिश सोच रहे थे कि भारतीयों को अधिकाधिक संतुष्टि दिलाकर युद्ध में भारतीयों का सहयोग पाया जाए। इस योजना के प्रमुख प्रावधान इस प्रकार रहे:

- अ. महायुद्ध की समाप्ति पर भारत को उपनिवेश के अंतर्गत स्वराज्य दिया जाएगा।
- ब. संविधान—निर्मिति के लिए संविधान समिति का गठन किया जाएगा।
- क. अगर किसी राज्य के उपरोक्त संविधान अमान्य है तो उसके लिए अलग संविधान बनाया जाएगा।

### त्रिमंत्री योजना—

महायुद्ध के बाद भारतीय राष्ट्रीय स्वातंत्र्य से सहानुभूमि रखनेवाले मजूर पक्ष की सरकार सत्ता में आई। आजाद हिंद फौज के प्रति सैन्य में निर्मित अपनत्व, नाविकों का आंदोलन, भूमिगत आंदोलन और सब से महत्वपूर्ण अर्थात् भारतीय जनता में उदित स्वातंत्र्य की आकांशा आदि से स्पष्ट हुआ

कि महायुद्ध के बाद ब्रिटिश सत्ता छोड़ देंगे। क्रिप्स योजना को नकारने पर मजूर पक्ष के प्रधानमंत्री मि. एटली ने भारत को स्वराज्य दिलाने के लिए तीन मंत्रियों को भेजा। उस समय हिंदू-मुस्लिमों में राजनीतिक समझौता कराना ही काफी मुश्किल था। त्रिमंत्रियों के द्वारा प्रस्थापित योजना के अनुसार मुस्लिमों के लिए स्वतंत्र राष्ट्र की कल्पना को अस्वीकार किया गया। परंतु जनसंख्या के आधार पर संविधान परिषद का गठन कराकर चुनाव का प्रावधान रखा गया था। साथ ही मंत्रिमंडल में मुस्लिम लीग के लिए पाँच स्थान आरक्षित किए गए थे। हाँ ना करते ही मुस्लिम लीग मंत्रिमंडल में शरीक हुई थी। परंतु लीग ने संविधान-निर्मिति में सहयोग देने से इंकार किया। इतना ही नहीं पं. नेहरू के मंत्रिमंडल में रहकर ही स्वतंत्र पाकिस्तान की माँग को आगे बढ़ाते रहे। इससे अत्यंत जटिल प्रसंग का निर्माण हुआ। ब्रिटिश प्रधानमंत्री मि. एटली ने ऐलान किया कि सन् 1948 में वे भारत छोड़ने जा रहे हैं, यदि उस समय केंद्रीयसत्ता के पास सत्ता सौंपने लायक स्थिति नहीं रही तो वह जिम्मेदारी प्रांतों को सौंपी जाएगी।

### माऊंट बैटन योजना तथा भारत का विभाजन—

लॉर्ड माऊंटबैटन ने भारत आने के बाद मार्च 1947 में जाहिर किया कि, “मैं कुछ महीनों के अंदर ही सत्ता का हस्तांतरण करने भारत आया हूँ।” उनकी योजना का प्रबंध इस प्रकार रहा—

- ✓ जून 1948 से पहले ब्रिटिश भारत छोड़ देंगे।
- ✓ 15 अगस्त से भारत में संक्रमणकालीन सरकार स्थापित की जाएगी।
- ✓ अगर भारत अखंडित नहीं रह सकता तो पहले के बंगाल, पश्चिम पंजाब तथा सिंध प्रांत को पाकिस्तान में शामिल कराए जाए। संस्थानिकों को भारत या पाकिस्तान में से किसी भी देश में शामिल होने की सहूलियत दी जाए। इसे देखा जाएगा कि वो सार्वमत द्वारा सरहद प्रांत तथा बलुचिस्तान में वे कहाँ शामिल होना चाहते हैं इसे देखा जाए।



- ✓ भारत तथा पाकिस्तान स्वतंत्र संविधान-परिषदों द्वारा अपने-अपने संविधान बनाएंगे। लीग ने 9 जून, 1947 को इस योजना को स्वीकार किया और विभाजन साकार हुआ।

### भारत स्वातंत्र्य कानून 1947

- ✓ उपरोक्त लॉर्ड माऊंटबैटन योजना के अनुसार ब्रिटिश संसद ने कानून पारित करके भारत-पाकिस्तान के स्वतंत्र सार्वभौम अस्तित्व तथा विभाजन पर आखिरकार मुहर लगा दी। इस कानून के प्रावधान इस प्रकार रहे- भारत तथा पाकिस्तान ये दो राज्य 15 अगस्त 1947 से प्रस्थापित होंगे। इन दोनों राज्यों में स्वतंत्र सरकारें रहेंगी।
- ✓ दोनों राज्यों में ब्रिटिश संसद के कानून लागू किए जाएँगे।
- ✓ संविधान-परिषद ही संसद के नाते काम करेगी। तथा नए संविधान की निर्मिति तक 1935 के कानून के प्रावधान ही आवश्यक परिवर्तन के साथ जारी रहेंगे।
- ✓ ब्रिटिश राज के सभी अधिकार हिंदी संस्थानों के पास जाएँगे तथा संस्थानों से किए गए सभी करार 15 अगस्त 1947 से रद्द किए जाएँगे।

इस कानून के द्वारा नए संविधान की निर्मिति तक सरकार चलाई गई। त्रिमंत्री योजना के अंतर्गत स्थापित संविधान परिषद ने संविधान-निर्मिति का कार्य किया। डॉ. आंबेडकर मसौदा समिति के अध्यक्ष थे। 26 जनवरी, 1950 के दिन नए संविधान को प्रत्यक्ष कार्यान्वित किया गया। डॉ. राजेंद्रप्रसाद राष्ट्रपति के रूप में और पं. जवाहरलाल नेहरू प्रधान मंत्री के रूप में कार्यरत हुए।

## स्वतंत्र्योत्तर युग में भारतीय जनतंत्र

### की यात्रा तथा जनतंत्र की चुनौतियाँ

हम भारतीय लोग,

भारत को एक सार्वभौम, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, एकात्म जनतांत्रिक प्रजासत्ताक गणराज्य के रूप में साकार करना प्रतिज्ञापूर्वक तय कर रहे हैं तथा भारतीय नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, आचार-विचार, धारणाएँ, श्रद्धा तथा पूजा का स्वातंत्र्य, स्तर तथा अवसरों की समानता प्राप्त होने की दृष्टि से तथा राष्ट्र का ऐक्य और व्यक्ति की प्रतिष्ठा की हामी भरकर उनमें भ्रातृभाव बढ़ाने की दृष्टि से हमारी इस संविधान समिति में 26 नवंबर 1949 को इस संविधान को विधिवत स्वीकार करके स्वतःप्रति अर्पित करके उसका स्वीकार कर रहे हैं।

(समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, एकात्म आदि शब्द 42 वें संविधान-परिशोधन द्वारा समाविष्ट किए गए।)

उपरोक्त भारतीय संविधान का सरनामा भारतीय संविधान के तत्वज्ञान को बतानेवाला तथा साररूप में ध्येयवाद प्रस्तुत करनेवाला महत्वपूर्ण दस्तावेज है। इसके द्वारा धर्म, जाति वंश, लिंग, जन्म आदि के आधार पर मनुष्य-मनुष्य में स्थिति भेदों को अस्वीकार कर नई समाजवादी प्रणाली से सरोकार व्यक्त हुआ। भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन पर उदारमतवाद, स्वातंत्र्य तथा समता के मूल्यों का जो प्रभाव रहा वही इससे प्रकट हुआ है।

संघराज्य पद्धति, मूलभूत अधिकार, संसदीय शासन, स्वतंत्र न्यायालय आदि भारतीय संविधान का ढाँचा है। साथ ही यह संरचना भारतीय संविधान का मूलभूत निचोड़ है जिसे बदलने का अधिकार किसी को भी नहीं है।

### भारतीय जनतंत्र की यात्रा

लिखित संविधान, संविधान के आधार पर केंद्र सरकार तथा राज्य सरकार के बीच स्थित अधिकारों का वितरण और स्वतंत्र न्यायव्यवस्था आदि संघराज्यीय प्रणाली की प्रमुख विशेषताएँ हैं। लिखित संविधान को बदलने के लिए कानून बनाना पड़ता है। सामान्य कानूनों के समान साधारण बहुमत के द्वारा संविधान परिवर्तन का कानून नहीं बनाया जा सकता। यह कानून 2/3 बहुमत से पारित कराना पड़ता है। केंद्र और राज्य सरकारों के अधिकार-क्षेत्र में परिवर्तन करना हो, तो संसद के 2/3 बहुमत के अतिरिक्त आधे से अधिक घटक राज्यों की विधान सभाओं की मान्यता जरूरी होती है।

संविधान के द्वारा प्रशासनिक विषयों की केंद्र-सूची, राज्य-सूची और सामयिक सूची आदि तीन सूचियाँ बनाई गई हैं। केंद्र-सूची में रक्षा, विदेश-नीति, रेल तथा हवाई यातायात, अर्थ, उद्योग आदि राष्ट्रीय महत्व के विषय रहते हैं। इस क्षेत्र में केवल केंद्र सरकार ही कानून बना सकती है। राज्य-सूची में राज्य के कानून तथा सुव्यवस्था, पुलिस-यंत्रणा, जिला तथा कनिष्ठ न्यायालय, सार्वजनिक स्वास्थ्य, विध्यापीठ, स्थानीय स्वराज्य संस्था, मनोरंजन, देवस्थानों का व्यवस्थापन आदि विषय समाविष्ट हैं। इस संदर्भ में राज्य-सरकार ही कानून बना सकती है। सामयिक सूची में फौजदारी तथा दीवानी कानूनों की कार्यवाही, शादी-तलाक, स्वामित्व-अधिकारों का हस्तांतरण आदि विषय आते हैं। सामयिक सूची के विषयों के बारे में कानून बनाने के अधिकार केंद्र तथा राज्य दोनों सरकारों को हैं। परंतु किसी विषय के बारे में अगर केंद्र ने कानून बनाया तो वह राज्य सरकार द्वारा निर्मित कानून से श्रेष्ठ माना जाता है और प्रचलित किया जाता है।

संविधान ने केंद्र तथा राज्य सरकार के बीच अधिकारों का विस्तार के साथ वितरण किया है। परंतु भारतीय जनतंत्र पर आपातकाल के संदर्भ में केंद्र सरकार को दिए गए व्यापक अधिकार की गहरी छाया है। युद्ध बाह्य आक्रमण अथवा अंतर्गत अशांति पर मात करने के लिए संपूर्ण देश में अथवा किसी घटक राज्य में आपातकाल घोषित करने पर राज्य सरकार के सभी अधिकार केंद्र सरकार के पास जाते हैं। यह केंद्रीकरण इतना व्यापक है कि प्रश्न उभरता है कि क्या सचमुच भारतीय संघराज्य, संघराज्य है? संविधानकर्ताओं की यह उम्मीद थी कि भारतीय जनतंत्र पर संकट आने पर अथवा राष्ट्रीय एकात्मता में बाधा पहुँचने पर ही आपातकाल लागू किया जाए। इस संदर्भ में डॉ. बाबासाहब आंबेडकर ने कहा है, “आपातकाल के समय नागरिकों की शेषनिष्ठा केंद्र सरकार में ही होनी चाहिए। क्योंकि ऐसे समय में केंद्र सरकार ही देशहित की दृष्टि से कार्य कर सकेगी। प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के द्वारा 1975 में जिस आपातकाल की घोषणा हुई वह आपातकाल प्रबंध करानेवाले संविधानकर्ताओं की भावना के विपरीत था, जिसे समझना जरूरी है। इंदिरा गांधी जी के कालखंड में 42 वें संविधान-संशोधन किया गया। इसके अनुसार मंत्रिमंडल के परामर्श को स्वीकारना राष्ट्रपति के लिए अनिवार्य करना, संसद की अवधि पाँच से छह वर्षों तक बढ़ाना, चुनाव के लिए किसी को अयोग्य करार देने के अधिकार संसद को देना, किसी भी राज्य में सेना भेजने के अधिकार केंद्र को देना, राष्ट्रपति शासन की अवधि को छह महिनों के बजाय एक साल तक बढ़ाना आदि प्रबंध किए गए। जिसकी कड़ी आलोचना हुई। आगे चलकर सन 1977 में तिरालीसवाँ संविधान-संशोधन कराके 42 वें संविधान संशोधन को रद्द किया गया।

स्वातंत्र्योत्तर युग में राज्यपाल का पद भी विवादस्पद बना है। अगर घटक राज्य में भिन्न पक्ष की सरकार हो तो केंद्र सरकार राज्यापाल के माध्यम से हस्तक्षेप करती है। आमतौर पर यही होता आया है। इसके लिए केंद्र-राज्य संबंधों का अनुशीलन कराने की दृष्टि से केंद्र सरकार ने

सरकारिया आयोग नियुक्त किया। आयोग ने कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशें कीं। यथा— राज्यपाल पद पर नियुक्ति के समय, राज्य सरकार से सलाह—मशवरा किया जाए। देश की एकात्मता के लिए देशभर में त्रिभाषा—सूत्र की कार्यवाही की जाए, केंद्र राज्य संबंधों पर नजर रखने के लिए तथा उन संबंधों के स्वस्थ रहने की दृष्टि से स्थायी यंत्रणा तैयार की जाए। परंतु इस दृष्टि से कुछ ठोस कदम उठाए गए हैं ऐसा तो नजर नहीं आता।

सर्वसाधारण परिस्थिति में भारत संघराज्यीय पद्धति के मार्ग पर चलनेवाला राष्ट्र है। फिर भी यह साफ दिखाई देता है कि उसका झुकाव केंद्रीकरण की ओर है। विशेषतः केंद्र की सरकार के पास व्यापक बहुमत हो तो यह झुकाव उग्रता से सामने आता है।

### **संसदीय शासन—**

भारतीय जनतंत्र ने संसदीय शासन—पद्धति का अवलंब किया है। इस पद्धति में प्रधानमंत्री का नेतृत्व, मंत्रिमंडल की सामूहिक जिम्मेदारी आदि का महत्व है, तथा संसद का विश्वास रहने पर ही मंत्रिमंडल सत्ता में रह सकता है। 1989 तक केंद्र के सत्ताधीश पक्ष को स्थिर बहुमत प्राप्त था। काँग्रेस के विघटन के बाद कई पार्टियों से बनी सरकारों का युग अवतरित हुआ है। गत ग्यारह वर्षों में श्री नरसिंह राव का अपवाद छोड़कर कोई भी सरकार अपने 5 वर्षों के कार्यकाल को पूरा नहीं कर पाया। अतः देश को समयपूर्व चुनावों का सामना करना पड़ा।

इस संपूर्ण परिस्थिति को मात देने की दृष्टि से भारतीय जनता पार्टी ने केंद्र सरकार की स्थिरता के लिए अध्यक्षीय पद्धति का समर्थन किया। परन्तु संसदीय पद्धति जनतंत्र के लिए अधिक पूरक

है। साथ ही भारत जैसे विशाल देश का कारोबार अध्यक्षीय, केंद्रीभूत पद्धति से चलाने में तानाशाही निर्माण होने का धोखा है। अतः अन्य पक्षों ने इसका विरोध किया है।

संसदीय पद्धति से कारोबार चलाने की सुदीर्घ परंपरा भारत में अंकित हुई है। इसमें कोई संदेह नहीं कि संसदीय शासन के द्वारा ही चर्चा तथा विचारविनिमय के जरिए चलाई जानेवाली सरकार की जनतांत्रिक संकल्पना साकार होगी।

### **मूलभूत अधिकार—**

हर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का विकास पूरी क्षमता से कर पाए इस दृष्टि से प्रत्येक जनतंत्र प्रणाली में मूलभूत अधिकारों की शाश्वति दी जाती है। ऐसी धारणा रही है कि इन अधिकारों की सहायता से हर कोई समय पर आधारित रूढ़ियाँ, मानवता को कलंकित करनेवाली कुप्रथाओं, भेदभाव तथा शोषण के विरुद्ध आवाज उठा पाए और व्यक्तित्व—विकास में बाधक बंधनों को फेंककर खुद की और समाज की प्रगति के मार्ग अपनाए जाएं।

भारतीय संविधान ने मूलभूत अधिकारों का विस्तृत विवरण दिया है, जो निम्नांकित है—

संविधान के सप्त अधिकारों का विवरण							
1	समता का अधिकार 1. कानून सभी को समान सुरक्षा 2. धर्म, वंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान आदि के बारे में समानता 3. नौकरीगत नियुक्ति के बारे में समानता 4. अस्पृश्यता पालन पर पाबंदी 5. विशेषाधिकारी पदवियाँ रहें।	2	अभिव्यक्ति का अधिकार 1. सत्त स्वतंत्र्य अ. भाषण तथा मतप्रदर्शन ब. संगठित होने का स्वतंत्र्य क. संस्था का संघस्थापन का स्वतंत्र्य ड. संचार स्वतंत्र्य इ. निवास स्वतंत्र्य फ. संपत्ति संपादन का स्वतंत्र्य ग. व्यवसाय, व्यापार, रोजगार तथा धंधे का स्वतंत्र्य 2. कानून के अनुसार सजा 3. कानून की प्रस्थापित पद्धति के द्वारा स्वतंत्र्य पर नियंत्रण 4. कैंद के बाद 24 घटों अंदर मौजिस्ट्रेट के सामने उपस्थित कराने का प्रावधान	3	शोषण के विरोध का अधिकार गुलामागिरी, बाल-मजदूरी, देवदासी, बंधुआ मजदूरी आदि पर पाबंदी	4	धार्मिक स्वातंत्र्य का अधिकार संविधान में निर्देशित सीमा में धर्म का आचार-विचार तथा प्रचार का स्वातंत्र्य
		5	सांस्कृतिक तथा शैक्षिक अधिकार 1. भाषा, लिपि तथा संस्कृति की रक्षा का अधिकार 2. कानून के द्वारा प्रस्थापित शिक्षा संस्थाओं में भेदभेद नहीं।	6	जायदाद के संबंध में अधिकार प्रचलित कानून के ढाँचे में संपत्ति पाने का अधिकार	7	संवैधानिक उपायों के सदर्भ में अधिकार कुचले जाने पर वैधानिक मार्ग से न्याय माँगने का अधिकार

ये मूलभूत अधिकार सप्तस्वातंत्र्य के रूप में विख्यात हैं। मानवीय मूल्यों पर आधारित समताधिष्ठित तथा शोषणमुक्त समाज का मार्गक्रमण तभी संभव है जब मूलभूत अधिकारों का सजग उपयोग किया जाए। संविधान कर्ताओं ने न सिर्फ मूलभूत अधिकारों को विस्तृत रूप में रखा बल्कि उन अधिकारों पर आक्रमण होने पर उसका प्रतिकार करने की दृष्टि से स्वतंत्र न्यायालय का भी प्रबंध किया है। भारतीय समाज की रचना सत्ता, संपत्ति तथा शिक्षा के विषम वितरण के कारण सदोष है, समता की पोषक नहीं है। अतः सामान्य भारतीय जनता को अपने अधिकारों के बारे में जागृत करना जरूरी है। 30 प्रतिशत से अधिक जनता निरक्षर, दरिद्र तथा भूख से पीड़ित है। ऐसी स्थिति में उससे जनतांत्रिक अधिकारों का प्रयोग कैसे संभव है? दरिद्र नारायण को जनतांत्रिक अधिकारों का लाभ कैसे मिलेगा? यह यक्ष प्रश्न है। जनसामान्यों के शक्तिशाली संगठनों पर ध्यान केंद्रित करने से ही सामान्य जनता को वास्तविक अधिकार उपलब्ध होंगे।

- जाति, धर्म, वंश, लिंग अथवा सांपत्तिक स्थिति के आधार पर निर्मित विषमता को नकारने वाला समता का अधिकार।
- भाषण, लेखन के द्वारा अपने मत प्रस्तुत करने का अधिकार तथा गैरकानूनी बंधनों को नकारनेवाला व्यक्तिस्वातंत्र्य।
- बधुआ-मजदूरी, देवदासी तथा अन्य सत्सम शोषण, रूढ़ियों को अस्वीकार कर शोषण मुक्त जीवन जीने के लिए प्राप्त अधिकार।
- भाषा, लिपि और सांस्कृतिक विशेषताओं की रक्षा के अधिकार।
- मूलभूत अधिकारों पर आक्रमण होने पर संवैधानिक उपाय कराने के अधिकार।

कुल सप्तस्वातंत्र्यों का स्वरूप इस प्रकार का रहा है।



आज अपने कार्यकर्ता, जनवादी संगठन, विभिन्न स्तरों पर परियोजनाग्रस्त निरक्षर जनता, आदिवासी, मजदूर, महिला आदि समाज घटकों में मूलभूत अधिकारों के प्रति उनका ज्ञान बढ़ाने का काम कर रहे हैं। इसके अलावा वे जनतंत्र में उनका समर्थ योगदान पाने की दृष्टि से कार्य कर रहे हैं। उम्मीद की जा रही है कि यदि प्रत्येक व्यक्ति अपनी क्षमता के अनुकूल समाज के दीन-दलितों को संगठित कराकर मूलभूत अधिकारों के द्वारा उनमें नव-समाज निर्मिति का एहसास जगाए तो भारत एक सशक्त जनतांत्रिक राष्ट्र के नाते दुनिया के सामने एक मिसाल बनकर रहेगा।

### **स्वतंत्र न्यायालय—**

यदि न्यायालय स्वतंत्र, निःपक्षपाती तथा भयमुक्त वातावरण में काम कर पाएँगे तभी जनतंत्र टिक पाएगा और प्रगति करेगा। भारतीय न्यायालयों ने घटक राज्य तथा केंद्र के बीच मध्यस्थ की भूमिका निभाना, मूलभूत अधिकारों के संरक्षक के रूप में काम करना तथा भारतीय संविधान का ढाँचा सुरक्षित रखना आदि भूमिकाएँ भारतीय न्यायालयों ने अदा की हैं। यह सच्चाई है कि सन 1975 के आपातकाल में भारतीय न्यायालय संविधान के संरक्षक के रूप में प्रभावी हस्तक्षेप नहीं कर पाए यह सच्चाई है। परंतु इसके बावजूद स्वातंत्र्योत्तर काल में जनता के अधिकार और कुछ संविधान के संरक्षक के नाते भारतीय न्याय प्रणाली की भूमिका सकारात्मक रही है। पर्यावरण, सुरक्षा, भ्रष्टाचार विरोध, सत्ता के मनमौजी प्रयोग पर रोक आदि विविध मार्गों से न्यायालयों ने अपने अस्तित्व को स्पष्ट किया है। न्यायालय की इस भूमिका से ही जनतांत्रिक व्यवस्था सामर्थ्यशाली बनने में मदद मिली है। लेकिन परिवर्तन का संघर्ष सफल कराने की इच्छा करनेवालों को सिर्फ न्यायालयों पर निर्भर नहीं रहना चाहिए। इसे याद रखना होगा कि जनता में अधिकार तथा कर्तव्यों के प्रति सजगता निर्माण करना ही जनतंत्र की सफलता की कुंजी है।

### **आतंकवाद तथा जनतंत्र का भवितव्य—**

गैर संसदीय मार्गों को अपनाकर सशस्त्र मार्ग से अपने राजनीतिक उद्देश्य हासिल करने में प्रयत्नशील रहने वाले कई संगठन तथा राजनीतिक पक्ष आज भारत में और दुनियाभर में कार्यरत हुए हैं। इसमें भाषिक, सांस्कृतिक अथवा धार्मिक आधार पर स्वतंत्र राष्ट्र-राज्य की माँग करनेवाले तथा विशिष्ट वैचारिक तत्वप्रणाली से प्रतिबद्धता रखकर उस विचारप्रणाली के अनुकूल शासन प्रस्थापित करने के इच्छुक संगठनों तथा पक्षों का समावेश किया जा सकता है।

भारत में कश्मीर की तथाकथित 'मुक्ति' के लिए पाकिस्तान से पुरस्कृत जैश-ए-मोहम्मद जैसे संगठन देश के भौगोलिक तथा राजनीतिक एकता को चुनौती दे रहे हैं। साथ ही साम्यवादी विचारों से प्रेरित होकर श्रमकर जनता के अनुकूल नीतियों का अवलंब करवानेवाले तथा अंतिमतः सशस्त्र मार्ग से शासन को ही कब्जे में लेने की इच्छा रखनेवाले 'पीपल्स वॉर ग्रुप' जैसे नक्सलवादी कहलानेवाले संगठन भी हैं। 'जैश-ए-मोहम्मद' जैसे सांस्कृतिक, धार्मिक आतंक फैलानेवाले संगठन हैं। 'पीपल्स वॉर ग्रुप' को राजनीतिक साहसवादी संगठन कहा जा सकता है। सांस्कृतिक और धार्मिक आतंकवादी संगठनों को सिर्फ धर्माधारित राष्ट्र चाहिए। उनके पास आर्थिक और शोषण-मुक्ति की कोई ठोस योजना नहीं है। तो नक्सलवादी संघटनों के पास शोषण मुक्त समाज के लिए कार्यक्रम है परंतु वे सशस्त्र मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं अतः भारत सरकार ने उनपर पाबंदी लगाई है। परंतु ऐसे साम्यवादी संगठनों के साथ जनतांत्रिक मार्ग से सुसंवाद स्थापित करने में कोई बाधा नहीं हो सकती। शोषण मुक्त समाज का स्वप्न स्थायी समाजवादी जनतंत्र से ही साकार हो सकता है, इस बात को उन्हें उचित संवाद के जरिए समझाया जा सकता है। उनके सशस्त्र मार्ग को त्यागने की दृष्टि से गंभीर तथा प्रमाणिक प्रयत्नों की आवश्यकता है। कश्मीर के धार्मिक आतंकवादी संगठनों पर भी सरकार ने पाबंदी लगाई है। दुनिया में अन्यत्र लिबरेशन टायगर्स ऑफ तमिल इलम (श्रीलंका), आयरिश रिपब्लिकन आर्मी (इंग्लैंड), दक्षिण अमेरिका तथा अफ्रीका में कार्यरत सशस्त्र गुट ऐसे अनेक आतंकवादी संगठनों के उदाहरण हैं।

आतंकवाद क्यों जन्म लेता है? इसका उत्तर ढूँढ़ने पर स्पष्ट होता है कि अगर शोषित समाज की अनेक उचित आकांक्षाएँ और माँगे जनतांत्रिक व्यवस्था के द्वारा दीर्घसमय तथा दुर्लक्षित रहीं तो ऐसे समाज समूह सशस्त्र मार्ग की ओर आकर्षित होते हैं। द्वितीय महायुद्ध के बाद अनेक बड़े राष्ट्रों की लालसा रही कि विश्व का नक्शा उनके अनुकूल रहे तथा विश्व पर उनका अपना स्वामित्व रहे। अतः उन्होंने धार्मिक और सांस्कृतिक आतंकवादी संगठनों को प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष प्रोत्साहन दिया। अमेरिका जैसे बड़े देश ने जिन आतंकवादी राक्षसों को जन्म दिया, उन्होंने ही 11 सितंबर को वर्ल्ड ट्रेड सेंटर पर हमला करके अमेरिका की शांति और स्वातंत्र्य को डस लिया। दूसरे शब्दों में कहें तो देवताओं से 'वरदान' प्राप्त राक्षसों ने ही स्वर्गलोक पर आक्रमण किया।

आतंकवाद ने न केवल भारत के सामने बल्कि संपूर्ण दुनिया के सामने तथा जनतांत्रिक विचारप्रणाली के सामने संकट खड़ा किया है। अप्रामाणिक रीति से पूँजीवादी देशों से उपलब्ध शस्त्रास्त्र, पैसा तथा चरस, अफीम, गांजा, ब्राऊन शुगर, ड्रग्स आदि मादक द्रव्यों के व्यापार से आतंकवाद पुष्ट हो रहा है। अनेक धर्मांध संगठन अपनी संकुचित राजनैतिक उद्देश्यों को साध्य रहने के लिए आतंकवादी संगठनों के सहारे मासूम लोगों की हत्या कर रहे हैं और सत्ता पाना चाहते हैं। ये विश्व की मानवता के लिए कलंक हैं। इनके अरमानों को किस प्रकार मिटा दें यही जनतंत्र के लिए बड़ी चुनौती है। आतंकवाद को रोकने के लिए सुयोग्य, जनताभिमुख तथा पुरोगामी आर्थिक, सामाजिक कार्यक्रमों की कार्यवाही जरूरी है। दुनिया में शोषणमुक्त जनतंत्र का स्वप्न साकार करने के लिए सभी को कटिबद्ध होना चाहिए। केवल सैनिकी कार्यवाही आतंकवाद का उत्तर नहीं हो सकता तो शांतिप्रिय लोकेच्छा, भ्रष्टाचार मुक्त शासन, समता पर आधारित जीवन ही उसका उत्तर हो सकता है। इस बात को मन में ठानकर ही मानवता को अग्रसर होना होगा।

आतंकवादी मार्ग से अगर दुनिया में राष्ट्र-राज्य की निर्मिति हुई तो उदारमतवादी, पुरोगामी विचार तथा जनतांत्रिक स्वातंत्र्य पर आधारित समाज व्यवस्था की संकल्पना पर वर्जाघात होने की संभावना है। आतंकवाद के इस तूफान से जनतांत्रिक नौका न भटके, इसके लिए हर किसी को प्रयत्न करने होंगे। धर्मांध राजनीति का निर्भयता से विरोध करना, जनसमूह का शांतिपूर्ण आंदोलन निर्माण करना, हिंसा-विरोधी लोकमत तैयार करना, विश्व-व्यापारीकरण का अमानवी चेहरा प्रकट करना आदि सैकड़ों उपक्रमों के द्वारा जनतंत्रवादियों को कठिन यात्रा पूरी करनी पड़ेगी। इसमें संदेह नहीं कि हमारा मार्ग शुद्ध, नेक तथा न्याय आकांक्षाओं का होने से निश्चय ही अंतिम विजय हमारी ही होगी।

### परिवार : जनतंत्र की नींव

मनुष्य समाज के द्वारा सर्वप्रथम निर्मित सामाजिक संस्था है- परिवार। परिवार के सदस्य प्रकृति के द्वारा स्वाभाविक रूप से उगे हुए कंदमूल, फल, शहद तथा अनाज को पकाना, भूना, सुखाना आदि प्रक्रियाओं के द्वारा खाने योग्य बनाते थे। संस्कृतिक रूप से स्थापित युग से पहले यही उनका भोजन था। स्वाभाविक तौर पर अन्न-निर्मिति की प्रक्रिया में स्त्री का महत्वपूर्ण सहयोग रहता था। आगे चलकर नुकीले पत्थर तथा धातुओं के साधनों से मानव-समाज खेती करने लगा। शायद माना जा सकता है कि खेती में स्नायुबल की आवश्यकता होने से पुरुष-वर्चस्व स्थापित होने लगा। मानवी स्थित्यंतर के इस हजारों वर्षों के कालखंड में अनेक स्थानों पर स्त्री-प्रधान समाज व्यवस्थाओं का निर्माण हुआ। इन स्थित्यंतरों के बारे में मतमतांतर हैं। फिर भी एक बात निर्विवाद रूप से स्पष्ट है कि स्त्री-पुरुषों के सम्मिलित प्रयत्नों से तथा अंतप्रक्रियाओं से परिवार-व्यवस्था साकार हुई है। इसमें स्त्री तथा पुरुष दोनों की भूमिकाएँ समान महत्व की हैं। हजारों वर्षों की प्रक्रिया से अस्तित्व में आई परिवार-व्यवस्था को समता पर आधारित ही होना चाहिए। इस संदर्भ में एकमत होना जरूरी है। परंतु ऐसा नहीं हो रहा है। यही नजर आता है कि सामाजिक रूढ़ियाँ, परंपराएँ तथा कुछ धर्म-कल्पनाएँ पुरुष वर्चस्व की पोषक हैं। अतः महत्वपूर्ण पारिवारिक

जिम्मेदारियों को निभाने पर भी स्त्रियों की भूमिका को गौण स्थान दिया जा रहा है। जिस पर समाज में पहले से ही संपत्ति, ऐय्याशी की अमर्यादित लालसा विद्यमान है। अतः दहेज जैसी मानवी प्रतिष्ठा को कलंकित करनेवाली प्रथाओं का निर्माण हुआ। इस प्रथा के कारण भारत में हर साल हजारों स्त्रियों को मानसिक पीड़ा, शारीरिक यातना तथा मृत्यु का सामना करना पड़ रहा है। आजकल तो एक तरफ प्रेम के कारण युवतियों की हत्या की जा रही है।

यह सब बदलना जरूरी है। जनतंत्र का विचार समता पर आधारित है। जनतंत्र तथा समता की नींव पर पारिवारिक संबंध स्थापित होने की दृष्टि से सभी को, विशेषतः पुरुषों को काफी कष्ट उठाने की जरूरत है। स्त्रियाँ अर्थार्जन के लिए घर से बाहर निकल रही हैं। शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति कर रही है। इतना ही नहीं अब उन्हें देश की सुरक्षा की जिम्मेदारी भी सौंपी जा रही है। ऐसी स्थिति में बच्चों का लालन-पालन उनकी शिक्षा-दीक्षा, उनपर जनतंत्र, समता तथा मानवी मूल्यों के संस्कार आदि कार्यों में पुरुषों को मन से शामिल होना चाहिए। अपने आस-पास घटित स्त्री-अत्याचारों के बारे में संवेदनशील रहकर ऐसे अत्याचारों को रोकने के लिए पुरुषों को प्रयत्नशील रहना चाहिए। संक्षेप में नए, पुरोगामी, अंतर्गत पारिवारिक संबंधों को दृढ़ बनाना समय की माँग है। इसे पहचानते हुए डॉ. लोहिया ने सप्तक्रांति के सूत्रों में स्त्री-पुरुष समानता की क्रांति का उल्लेख किया था। इसमें आशंका नहीं कि ऐसी क्रांति शक्तिशाली और सजीव जनतंत्र की पूरक होगी। भारत तथा विश्वभर में आदिवासी समाज में स्त्री-पुरुषों के संबंध उद्योगीकृत तथाकथित प्रगत समाज की तुलना में अधिक समता पर आधारित हैं। उनमें उद्योगीकरण से निर्मित भोगवादी आवृत्ति नहीं होती। उस समाज के आदर्शों को हमें स्वीकारना होगा। स्त्री-शिक्षा के जरिए जोतिबा फुले और सावित्रीवाई ने रूढ़ियों के अंधकार को दूर करने के लिए ज्योति जलाई। अगर हम उसके प्रकाश को भारत में तथा विश्व में सर्वत्र फैला पाए तभी हम समझेंगे कि हमने गुरुजी के स्वप्नों से भारत का निर्माण हो पाएगा।

## संक्रांतिकाल के भारतीय जनतंत्र का भवितव्य—

राजनीतिक अस्थिरता, नौकरशाही का भ्रष्टाचार, अवसरवादी राजनीति के कारण मूल्य पर आधारित राजनीति की इच्छा रखनेवालों की उपेक्षा आदि पर उपाय करने की दृष्टि से जरूरी है कि राजनीतिक इच्छाशक्ति को दर्शाया जाए तथा जनतंत्रवादी शक्तियाँ संकलित हो जाएँ।

वैश्वीकरण का प्रलोभन दिखाकर, आर्थिक नीतियों पर कार्यवाही करके देश का दिवाला निकालनेवाली नीतियों को अपनाने के बजाय, कृषिविकास को हर प्रकार से उत्तेजित करके श्रमशक्ति के आधार पर छोटी-बड़ी बस्ती में बिजली तथा पानी को उपलब्ध कराना ही भारतीय विकास का राजमार्ग होगा। इसके लिए आवश्यकतानुसार छोटे-बड़े बाँधों तथा नदी घाटियों के समिमलित विकास-योजना की नीति को राष्ट्रीय मतैक्य के आधार पर हासिल करना चाहिए। प्रगति की रफ्तार से उद्भूत प्रश्नों को सुलझाने के लिए विस्थापितों के लिए जनताभिमुख कानून बनाने चाहिए तथा न्याय नीति को अपनाना चाहिए।

अमर्यादित हिंसा तथा अराजकता से देश को बचाने के लिए सभी को कटिबद्ध होना चाहिए। आज विज्ञान-तंत्रज्ञान के क्षेत्र में देश सक्षम हुआ है। हमारे पास जल, खनिज तथा सौर साधन उपलब्ध हैं। परंतु जनतांत्रिक प्रथा तथा संस्थाएँ कमजोर हो रही हैं अतः राजनीति अव्यवस्थित हो रही है। देश के सर्वांगीण तथा स्थायी विकास में शासन को सशक्त और प्रभावी भूमिका निभाना जरूरी होता है। देश की पुरोगामी शक्तियों का विघटन रूकवाकर जनवादी नीतियों का अवलंब करने से संपूर्ण देश केरल की पहले की राजनीति का पाठ दुहरा जाएगा।

भारत को जनतंत्र की गौरवशाली परंपरा प्राप्त है। गौतम बुद्ध के लिच्छवी से प्रारंभ हुई यह जनतंत्र की यात्रा प्रातिनिधिक जनतंत्र तक आ पहुँची है। परंतु इस परंपरा को खंडित करने के लिए कुछ प्रतिगामी, धनोन्मत्त और धर्माध शक्तियाँ सतत प्रयत्नशील रहती हैं। इतना ही नहीं वो जनतंत्र के उच्चारण स्वातंत्र्य का गलत लाभ उठाकर 'ठोकशाही' का समर्थन कराके जनतंत्र का उपमर्द कर रही हैं।

हमें इस बात को नहीं भूलना चाहिए कि जनतांत्रिक व्यवस्था के स्थायी रहने पर ही सामान्य आदमी अपने अधिकारों के प्रयोग से न्याय पा सकता है। केवल जनतंत्र के द्वारा ही 'आम आदमी के राज्य' का सपना साकार हो सकता है।

स्वातंत्र्यपूर्व युग में ब्रिटिशों ने हमें जनतंत्र के प्राथमिक सबक सिखाए। परंतु स्वतंत्रता संग्राम के लोग तिलक, नामदार गोखले, न्या. रानडे, म. गांधी, पंडित नेहरू आदि ने विविध जन आंदोलनों के द्वारा भारतीय जनमानस को जनतंत्र के अनुकूल बनाया। तभी तो स्वतंत्रता के बाद आधी शताब्दी से भी अधिक समय भारतीय जनतंत्र मार्गक्रमण कर रहा है।

आज हिंदू-मुस्लिम धर्माध शक्तियाँ कालबाह्य तथा विषमता के पोषक, समता के विघातक विचार प्रस्तुत कराके जनतंत्र को चुनौती दे रहे हैं। इस चुनौती के समय में अंबेडकर जी द्वारा दर्शाए गए मार्ग पर चलना जरूरी है। साथ ही स्त्री, दलित, असंगठित मजदूरों के समर्थ संगठन निर्माण करने चाहिए।

मुंबई-गुजरात में जातीय दंगों को फैलाकर कुछ धर्माध संगठन अपना राजनीतिक आसन स्थिर कराने में प्रयत्नशील हैं। तथा कथित अभिजन तथा धनोन्मत्त लोगों के द्वारा असंगठितों के संघर्षों

को दबाने की कोशिश हो रही है। ऐसी प्रतिकूल स्थिति में हमें दृढ़ता से काम करने की आवश्यकता है। हिंसाचार, तत्वशून्य और मूल्यविहीन राजनीति के साथ ही प्रसिद्धि की लालसा से जनता को आंदोलित करने की प्रवृत्ति आदि पर मात करने के लिए हमें कटिबद्ध होना चाहिए। इसके लिए जरूरी है कि प्रत्येक स्तर पर स्थायी संघटनाओं का निर्माण करके प्रदीर्घ अवधि तक लगन से काम करनेवाले कार्यकर्ताओं के गुट तैयार किए जाएँ। तभी जनतंत्र को ग्रासित सर्वग्राही ग्रहण छूट पाएगा।

21वीं शदी में प्रवेश करते समय हम तन—मन—धन से जनतंत्र, समता तथा धर्मनिरपेक्षता पर आधारित समाज के निर्माण में अपना सर्वस्व लगा दें तथा जनतंत्र की नींव मजबूत करें।

हम भारतीय लोग,

भारत को एक सार्वभौम, समाजवादी, धर्मनिरपेक्ष, एकात्म, जनतांत्रिक प्रजासत्ताक गणराज्य के रूप में साकार करना प्रतिज्ञापूर्वक तय कर रहे हैं तथा भारतीय नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय, विचार, उच्चार, धारणाएँ, श्रद्धा तथा पूजा का स्वातंत्र्य, स्तर तथा अवसरों की समानता प्राप्त होने की दृष्टि से तथा राष्ट्र का ऐक्य और व्यक्ति की प्रतिष्ठा की हामी भरकर उनमें भ्रातृभाव बढ़ाने की दृष्टि से इस संविधान को विधिवत स्वीकार करके स्वतः प्रति अर्पित करके उसको स्वीकार कर रहे हैं।



